पुस्तक
उपाध्याय अमर मुनि : एक अध्ययन

सम्पादक
विजय मुनि शास्त्री साहित्य रत्न

प्रकाशक
सम्मति ज्ञान-पीठ आगरा

मूल्य
चार रुपये

सन्
१९६२

मुद्रक
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस आगरा

प्रस्तावना

उपाध्याय अमर मुनि जी महाराज एक सन्त हैं, कवि हैं, विचारक हैं, महान् दार्शनिक हैं और श्रमण-संघ के उपाध्याय हैं। परन्तु, सच्चे अर्थ में वे मानवता के सन्देशवाहक हैं, जीवन के कलाकार हैं, युग-द्रष्टा हैं, युग-स्रष्टा हैं और युग-पुरुष हैं। उनके विचार किसी एक दिशा-विशेष में ही प्रवाहमान नहीं हैं, प्रत्युत वे सभी दिशा-विदिशाओं को आलोकित कर रहे हैं। यदि महान् दार्शनिक एवं विराट विचारक प्लेटो के शब्दों में कहें तो "वे सम्पूर्ण काल एवं सत्ता के द्रष्टा हैं।"[1]

कवि श्री जी का साहित्य किसी काल, व्यक्ति, देश एवं जाति विशेष में आबद्ध नहीं है। उनका साहित्य उनकी कठोर-साधना एवम् घोर तपस्या का सुमधुर फल है। उसका आलेखन किसी साम्प्रदायिक परिधि में रहकर नहीं, प्रत्युत समस्त मानव-जाति को, प्राणी-मात्र के हित को एवम् विश्व-बन्धुत्व तथा विश्व-शान्ति की उदात्त भावना को सामने रखकर हुआ है।

कवि श्री जी अपने आप में पूर्ण हैं, अपने विचारों के वे स्वयं निर्माता हैं। वे किसी व्यक्ति के द्वारा अपने मन-मस्तिष्क पर नियन्त्रण करने के पक्ष में नहीं हैं। वस्तुतः जो व्यक्ति सत्य में अभिभूत अपने

---

1 Philosopher is the spectator of all time and existance
—*Plato*

सहज-स्वाभाविक विचारों एवम् सोचने-समझने की शक्ति को किसी शासन से—भले ही वह शासन साम्प्रदायिक, जातीय एवम् राष्ट्रीय संकीर्ण विचारों की हो दबाने का प्रयत्न करता वह अत्याचारी है और जो व्यक्ति अपने मस्तिष्क को दूसरे हाथों में सौंप देता है, अपने दिमाग को दूसरे के पास गिरवी रख देता है, वह गुलाम है दास है। सहज स्वाभाविक स्वतन्त्र चिन्तन को जबरदस्ती रोकने का प्रयत्न करना भी अपराध है और अपने मन को दूसरे के हाथ बेच देना भी पाप है। कवि श्री जी का चिन्तन इन समस्त अधिकारी काल-कोठरियों से ऊपर उठा हुआ है। उनके साहित्य में उनका स्वतन्त्र चिन्तन एवम् विराट व्यक्तित्व स्पष्ट परिलक्षित होता है।

साहित्य क्या है? व्यक्ति के जीवन का साकार रूप है। साहित्य व्यक्ति की अभिव्यञ्जना है। साहित्य केवल शब्द-शब्दों का समूह नहीं है, उसमें व्यक्ति का जीवन बोलता है। व्यक्ति के जीवन को परखने के लिए साहित्य सर्वश्रेष्ठ एवम् सुन्दर साधन है। इससे व्यक्ति के गाम्भीर्य एवम् [illegible] का स्पष्ट परिचय मिलता है। अस्तु, कवि श्री जी का साहित्य ही उनका यथार्थ परिचय है। उनके जीवन के अध्ययन का अभिप्राय है—कवि श्री जी के साहित्य का अध्ययन करना उनके गढ़े हुए विचारों का एवम् विशाल चिन्तन का अनुशीलन-परिशीलन करना।

कवि श्री जी का साहित्यिक जीवन गीतों एवम् कविताओं से प्रारम्भ होता है। उनके गीत धार्मिक आध्यात्मिक एवम् मानवीय भावों से ओत-प्रोत हैं। और साहित्य-साधना के शैशव काल में भी हम उन्हें क्रान्ति का राग अलापते हुए देखते हैं। वे मन्त्र-युग के पाषाण-हृदय

---

1 He wh endeavours to control th mind by force is tyrant and he who submits, i a slave

—R. G I gersoll.

मानव के जीवन मे मानवीय चेतना के सुकोमल भावो को जगाने के लिए उसे झकझोरते हुए कहते हैं—

"तुम न सता-सताकर सबको, करो अपने प्रतिकूल।
पत्थर दिल को अब तो बनालो, अति ही सुकोमल फूल॥"

वस्तुत काव्य के दो पक्ष होते हैं—

१ अनुभूति पक्ष और २ अभिव्यक्ति पक्ष। कवि जी के काव्य मे अनुभूति की तीव्रता है। उनके धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक एव कविता सम्बन्धी विचार इतने अभिनव एव स्वतन्त्र हैं कि उन्हे किसी सकुचित दायरे मे आबद्ध नही किया जा सकता। उन्होंने जीवन का सूक्ष्म एव गम्भीर अध्ययन किया है। उनके गीत एव उनकी कविता हृदय से निकले हुए शुद्ध भाव हैं, जिनमे न तो बाह्याडम्बर है और न कृत्रिम सजावट है। उनके विचारो मे अनुभूति की सच्चाई एव तीव्रता है, जिसकी अभिव्यक्ति करने में वे सफल रहे है।

कवि श्री जी के काव्य का अभिव्यक्ति-कलापक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। भाव-प्रवणता के कुछ उदाहरणो का अवलोकन करने से ही उनके कला-कौशल का परिचय मिल जाएगा।

"जिसकी रग-रग मे न खोलता,
भव्य भक्ति का अभिनव रक्त।
हृदय - हीन, श्रद्धा - विरहित वे,
हो सकते हैं क्यों कर भक्त!"

कवि जी के भावो मे ओज है, तेज है। उनके गीतो में सरसता एव माधुर्य है। उनकी भाषा मे प्रवाह है। फिर भी वे विचार-पक्ष को कला पक्ष से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। वे कला को विचारो पर, अनुभूति पर हावी नही होने देते। उनके काव्य एव साहित्य की यही

विशेषता है कि भाव भाषा का अनुसरण नहीं करते, प्रत्युत भाषा भावों के अनुरूप प्रवहमान होती है। वे भाषा की सजावट के लिए भावों को विचारों को तोड़ना-मरोड़ना पसन्द नहीं करते। वे भाषा को भावों की अनुगामिनी मानते हैं जिसका उनके काव्य में स्पष्ट दर्शन होता है।

साहित्य-साधना के उषा-काल में धर्म समाज एवं राष्ट्र की क्रान्ति पर अनुप्राणित भावना यदि केवल काव्य में ही सीमित नहीं रहा। उनका विराट चिन्तन सम्पन्न विधा-विविधाओं को आलोकित करने लगा। उनकी लेखनी का सम्पर्क पाकर दर्शन आगम काव्य निबन्ध संस्मरण यात्रा-वर्णन गद्य-काव्य पद्य-काव्य कहानी एवं समालोचना आदि साहित्य उपवन पल्लवित पुष्पित एवं फलित होने लगा। व्यापक चिन्तन से साहित्य का कोई भी कोना अछूता नहीं रहा।

[illegible] आपने उच्चकोटि के निबन्ध लिखे हैं। भाषा, भाव शैली एवं अभिव्यञ्जना—सभी दृष्टियों से आपके निबन्ध अनुपम एवं अद्वितीय हैं। आपके साहित्य की भाषा प्राञ्जल एवं प्रवाहमयी है। विचारों में मौलिक चिन्तन है। वे न अतीत की जेल में बन्द हैं और न वर्तमान की उच्छृङ्खलता से प्रभावित हैं। प्रगत जीवन में न लकीर के फकीर बन कर चल रहे हैं और न अभिनव विचारों के हवाई बनकर गतिशील हैं। वे सत्य के आध्यात्मिक पुरातन विचारों का भी आदर करते हैं और अभिनव विचारों का भी। उन्हें न नवीन का आग्रह है और न पुरातन का। उन्हें आग्रह है—सत्य का यथार्थता का। वस्तुतः वे किसी युग के पुजारी नहीं सत्य के उपासक हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में परम-स्नेही साथी श्री विजय मुनि जी ने उनके विराट जीवन का परिचय दिया है और वे उसमें बहुत-कुछ सफल रहे हैं। इसमें गीत, कविता खण्ड-काव्य महाकाव्य निबन्ध संस्मरण यात्रा-वर्णन गद्य-काव्य कहानी लघु-कथाएँ प्रश्न और उत्तर, प्रवचन

सूक्ति-सुधा आदि अध्ययन दिए गए हैं। प्रस्तुत अध्ययन मे कवि श्री जी के पत्र-साहित्य को सम्मलित नही किया है। पत्र व्यक्ति के जीवन का महत्त्वपूर्ण अग है। इससे व्यक्ति के अभ्यान्तर एव वाह्य जीवन का स्पष्ट परिचय मिलता। अत यह कमी अवश्य खटकती है। फिर भी कवि श्री जी की सर्वतोमुखी विकसित साहित्य-साधना के विविध अगो को एक ही जगह उपस्थित करके उनके विराट जीवन से परिचित होने का एक महान् साधन उपस्थित कर दिया। उनके साहित्य का अध्ययन उनके विशाल एव पावन-पुनीत जीवन का दर्शन करना है। इसके लिए लेखक को शत-शत अभिवादन।

जैन-भवन
दिनाङ्क २७ सितम्बर, १९६२

—मुनि समदर्शी

उपाध्याय अमर मुनि

एक अध्ययन

दयामय दीनो के भगवान् !
हम दीनो पर कृपया अपना रखते रहना ध्यान ॥

तुम पूर्ण-सिन्धु हम तुच्छ-विन्दु है, नही कुछ अपना भान ।
वोधिदान के द्वारा प्रभुजी करलो आप समान ॥दयामय

पतितो का पत राखन-हारे, भवसागर जलयान ।
विश्व हितकर करो सभी को, उन्नति लक्ष्य प्रदान ॥दयामय

दया-दान-सन्तोष हो हम मे, प्रभुजी एक समान ।
काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह का हो जड से अवसान ॥दयामय

भेद-भाव हो लुप्त परस्पर, कर वन्धुत्व विधान ।
हो स्वतन्त्र सब, कही दास्य का रहे न नाम-निशान ॥दयामय

धर्म-पक्ष पर अडे अडिग हम, हँस-हँस हो बलिदान ।
पाप-पक्ष तो लें न स्वप्न मे, भीरु बनें सुमहान ॥दयामय

रहे अदम्य अगम्य निरन्तर, हम भारत सन्तान ।
तने सकल भू-मण्डल पर हो, नित नव कीर्ति-वितान । दयामय

लसैं अविद्या तिमिर नष्ट कर, विद्या-स्वर्ण-विहान ।
प्रभो ! रमो हर रोम-रोम मे मान 'अमर' स्वस्थान॥दयामय

प्रभुजी क्या है देखोगे नाथ तो मेरी ओर !—(ध्रुव)

ऊबड़ मग भव-विपन भयंकर, चल रही आँधी घोर।
बाल दीन असहाय मुझे हा! लूट रहे कर्म चोर॥

भूल गया कौशल सभी मैं चले न कुछ भी जोर।
नाथ तुम्हीं हो अब तो मेरे केवल रक्षा ठोर॥

तुम तो पावन हो परमेश्वर मैं पतितन सिरमौर।
दीनबन्धु! क्यों देर करो कुछ करो स्वपद पै गौर॥

पुत्र-दुःख में होत पिता का करुणा-सिन्धु हिलोर।
किन्तु देव क्या कारण मुझ पै बन गए कठिन कठोर॥

अब तो अपने तुल्य करो प्रभु, यह जन पामर ढोर।
'भ्रमर' लग रही लौ तुम ही से जैसे चन्द्र-चकोर॥

पाप में मनवा घूम रहा

पापो मे मनवा घूम रहा, तेरा मोक्ष-गमन कैसे होय !

पामर पीडित दीन-जनो को, सता-सता खुश होय।
करुणा तो अणु-मात्र भी रे मन कभी ना आवे तोय ॥

बोले झूठ सदा बढ-बढकर, खुश हो थूक विलोय।
निकले ना मुख से मन तेरे, सत्य वचन नही कोय ॥

सब ही कामो मे चोरी का करता काम छुपोय।
झूठे लालच से क्यो मनवा रहा निज आत्मा डुबोय ॥

दूषित निज मानस अति करता सुन्दर नारी जोय।
ब्रह्मचर्य व्रत खोय के रे मन, सब ही व्रत दिये खोय ॥

कौडी-कौडी जो भी जोडे, धरती दाबे सोय।
दान-पुण्य करने से क्यो तू हट जावे बस रोय ॥

खोटी सगत बैठ बढावे राग-द्वेष नित दोय।
सत्सगति मे कभी न बैठे आवे लज्जा तोय ॥

फल अच्छा जो चाखा चाहे, बीज भी अच्छा बोय।
मोक्ष 'अमर' तो तभी मिलेगी, जब लेगा दिल धोय ॥

क्या फूले निज मन में

क्या फूले निज मन में मूरख ! क्या फूले निज मन में ।
कुछ नहीं धरा फूलन में मूरख ! क्या फूले निज मन में ॥

अंट-संट खा-पीकर क्या-क्या शक्ति बढ़ावे तन में ।
आखिर पानी का परपोटा विनस जाय पल-छिन में ॥

कोमल-कोमल फूल बिछा क्या सोवे सुख महलन में ।
याद रहे उस दिन की भी जब सोना होगा अगन में ॥

मोटर-बग्गी बैठे ऐंठ से पैर न धरे धरन में ।
देख हँसदी नंगे पैरों फिरे किसी दिन वन में ॥

आँखें मीचे क्या धन-मद से चाँदी की खन-खन में ।
देख घर-घर भीख माँगते धनिक न वस्त्र बदन में ॥

दुनिया भर की गप-शप मारे, बैठ मित्र परिजन में ।
वे ही दूर दूर करें एक दिन नफरत कर मिलन में ॥

सीधी-सादी बात बना और सीधा रहन-सहन में ।
और नहीं कुछ रखे 'अमर' यहीं यहीं बस रहे अमन में ॥

जगत के तारने वाले जगत में सन्त-जन ही हैं,
उन्हें उपमा कहो क्या दें, अपन में वे अपन ही हैं।

सकल सुख भोग तज करके, जगत-कल्याण को निकले,
मनोहर महल जिनके फिर भयंकर शून्य वन ही हैं।

अटल संयम सुमेरु के शिखर पर सन्त बैठे हैं,
जिधर देखो उधर उनके अमन के गुलचमन ही हैं।

सुधा की खोज में दुनियाँ बनी फिरती है क्यों पागल,
सुधा तो सन्त लोगों के सदा मंगल—वचन ही हैं।

कुल्हाड़ी से कोई काटे, कोई आ फूल बरसाए,
खुशी से दें दुआ यकसाँ अजब सारे चलन ही हैं।

स्वयं पर वज्र भी टूटे, तो हँसते ही रहेंगे, हाँ,
दुखी को देख रो उठते दया के तो सदन ही हैं।

हृदय की हूक में हरदम हजारों बार वन्दन हो,
'अमर' अमरत्व के दाता सन्त के पावन चरन ही हैं।

स्वार्थ का संसार है स्वार्थ का संसार।

मात-तात-सुत-बन्धु-मित्रगण और मनोहर नार।
प्यार करें सब स्वार्थ-पूर्ति से बिन मतलब धुत्कार॥

सुख में सब जन करें प्रेम से हाँ-हाँ जी-जी कार।
कष्ट पड़े सब होते न्यारे, देकर बहु धिक्कार॥

पुष्प फलान्वित हरे वृक्ष पर, रहते खग परिवार।
शुष्क हुए सब भगे छोड़कर, करी न नीड़ समार॥

सूरीकान्ता ने निज पति को दे विषयुक्त आहार।
स्वार्थ-सिद्धि हित देखो कैसा कर दिया अत्याचार॥

कोणिक और औरंगजेब ने किया न सोच-विचार।
स्वार्थ-मग्न हो अपने पितु को दिया कैद में डार॥

पृथ्वीभान गुरु वचनामृत को हृदय सदन में धार।
बाहर निकाली बीच 'अमर' कहें करलो सत्य सुधार॥
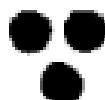
आतम-बल सब बल का सरदार ॥ध्रुव॥

आतम-बल वाला अलबेला,
निर्भय होकर देता हेला।
लड़कर सारे जग से अकेला,
लेता बाजी मार ॥ ध्रुव

कैसी ही हो फौज भयकर,
तोप मशीनें हो प्रलयकर।
आतम-बली रहता है बेडर,
देता सब को हार। ध्रुव

चाहे फाँसी पर लटका दे,
चाहे तोप के मुँह उड़वा दे।
आतम-बली सबको ही दुआ दे,
कभी न दे धिक्कार ॥ध्रुव

लेता है आतम बल-धारी,
स्वतत्रता सब जग की प्यारी।
पराधीनता दुख सहारी,
करे सुखी ससार ॥ ध्रुव

प्रतिहिंसा के भाव न लाता,
सदा शान्ति का गाना गाता।
सारा सोता देश जगाता,
करे नीति परचार ॥ ध्रुव

आतम-बल है जग मे नामी,
'अमर' न इसमे कुछ भी खामी।
बनो इसी के सच्चे हामी,
तज पशु-बल भयकार ॥ध्रुव

सफल जीवन की माँग

जीवन सफल बनाना हाँ बनाना प्रभो !

हृदय मन्दिर में घुप है अन्धेरा—
ज्ञान की ज्योति जगाना हाँ ! जीवन ॥
धधक रहा है द्वेष दावानल
प्रेम पयोधि बहाना हाँ ! जीवन ॥
भोग-वासना जला रही है
अन्तर ताप बुझाना हाँ ! जीवन ॥
बीच भँवर में नैया फँसी है
झट-पट पार लगाना हाँ ! जीवन—॥
न्याय मार्ग का पथ न छोड़ूँ
दुश्मन हो सारा जमाना हाँ ! जीवन—॥
उत्कट संकट हँस-हँस झेलूँ
अविचल धैर्य बँधाना हाँ ! जीवन—॥
प्राणी-मात्र को सुख पहुँचाऊँ
चाहूँ न चित्त दुखाना हाँ ! जीवन—॥
मैं भी तुम-सा जिन बन जाऊँ,
परदा दुई का हटाना हाँ ! जीवन—॥
'अमर' निरन्तर आगे बढ़ूँ मैं
कर्तव्य वीर बनाना हाँ ! जीवन—॥

●●
●

धर्म की पूँजी कमाले—कमाले जीवा जीवन वन जाएगा ।

जीवन-पट वे रग है कव से ?

मयम रग चँढाले—चढाले जीवा—जीवन वन जाएगा । धर्म

वागे जहाँ मे अपना जीवन-पुष्प मुगन्ध वनाले जीवा ॥

जीवन वन जाएगा । धर्म

अखिज विश्व के दलित-वर्ग की सेवा भार उठाले-उठाले जीवा ।

जीवन वन जाएगा । धर्म

मोया पडा है अन्तर-चेतन मत्सग वैठ जगाले-जगाले जीवा ।

जीवन वन जाएगा । धर्म

मोह-पाश के दृढ वन्वन से, अपना पिण्ड छुडाले-छुडाले जीवा ।

जीवन वन जाएगा । धर्म

हो तू भला इतना कि रिपु भी, चरणो मे शीश झुकाले-झुकाले जीवा ।

जीवन वन जाएगा । धर्म

राग-द्वेप का जाल विछा है, दूर से राह वचाले—वचाले जीवा ।

जीवन वन जाएगा । धर्म

'अमर' मुयश के वाद्य वजेंगे, सत्य की धूनी रमाले-रमाले जीवा ।

जीवन वन जाएगा । धर्म

मत बोओ पेड़ बबूल !
क्योंकि तुम्हारे पग में एक दिन चुभेंगे तीखे शूल ॥

दीन-जनों का खून चूस कर, मत न बनो स्थूल ।
रो-रो अँखियाँ फूलेंगी जब मारेंगे यम शूल ॥

मत न छाती तान गर्व से चलो अपनी धुन घूम ।
जग से उड़ जाओगे एक दिन जैसे हवा से धूल ॥

मन ना सता-सताकर सबको करो अपने प्रतिकूल ।
पत्थर दिल को अब तो बनालो अति ही सुकोमल फूल ॥

पुण्योदय से मिला यह नर-भव मत ना खोओ फिजूल ।
ब्याज जाए ऐसी-तैसी में रख लो केवल मूल ॥

अमर सदा सुख चाहते हो तो करलो वचन कबूल ।
पर उपकारों में ही हरदम 'अमर' रहो मशगूल ॥

मन मूरख क्यों दीवाना है

मन मूरख क्यो दीवाना है,
जग सपना क्या गरवाना है ?

आज खिला जो फूल चमन में।
कल इसको मुरझाना है ॥ मन

आज खिली जो धूप तो कल को,
घन अँधियारा छाना है।

प्रात चढा जो सूर्य गगन मे।
शाम हुए छिप जाना है ॥ मन

अभी उठी जो लहरें जल मे,
अभी उन्हें लय पाना है।

रात पडी जो ओस कमल पर।
हिलते ही ढल जाना है ॥ मन

यह जीवन कागज की पुडिया,
बूँद लगे गल जाना है।

चन्द रोज की जिन्दगानी पर।
क्यो पागल मस्ताना है ॥ मन

कितना ही तू क्यो न अकड ले,
आखिर मर-घट आना है।

कौन किसी का जग मे, जिस पर।
यह सब झगडा ठाना है ॥ मन

'अमर' सत्य पर तू बलि होजा,
नाम अमर अपनाना है ॥मन

काहे बिसावे काल भनारी !

क्या कुछ होता बीन सताकर
अपने बस का जोर जताकर।
आये कुम्भी काल भनारी ॥ काहे

सदा यहाँ पर रहना नहीं है
आखिर जाना जाना सही है।
काहे चला सब धाम भनारी ॥ काहे

तू तो बेसुध नींद में सोता
वक्त अमोलक पाप में खोता।
सिर पे फिरता काल भनारी ॥ काहे

थोड़ा जो महापाप करम कर,
होगा सहाय न कष्ट पड़े पर।
तेरा कभी बन-वास भनारी ॥ काहे

मतलब के है सब संगाती
बिन मतलब सूरत ना भाती।
काहे फँसा बेहाल भनारी ॥ काहे

मरतु 'अमर' अमर पद चाहता
मन से और सदा सुलझाता।
सकल मिटे जंजाल भनारी ॥ काहे

ओ महावीर जी ! ओ महावीर जी !!
ओ महावीर जी ! ओ महावीर जी !!

धर्म-विश्वास था सब उठा जा रहा।
पाप का वेग दिन-दिन बढा जा रहा ॥
नाश के गर्त मे था जगत जा रहा।
तू ने बदली नई फिर से तसवीर जी !!

धर्म-पन्थो के सघर्ष का जोर था।
मैं व तू का शरारत भरा शोर था ॥
एक उद्दण्डता-राज्य चहुँ ओर था।
तू ने स्याद्वाद जैसी दी अकसीर जी !!

धर्म के नाम पर घोर हिंसा चली।
मूक पशुओ के कण्ठो पै छुरियाँ चली ॥
धर्म-गुरुओ ने थी भोली जनता छली।
तू ने तोडी यह पाखण्ड-जजीर जी !!

भोग की वासना थी भयकर बला।
मास-मदिरा का था खूब दौरा चला ॥
मादरे हिन्द का था हृदय हा जला।
तू ने दीया दया का पिला नीर जी !!

वीर भगवन् ! बडा तेरा उपकार है।
प्राण-पण से ऋणी सर्व ससार है ॥
तू दया का 'अमर' पूर्ण अवतार है।
तू ने आके जगत की हरी पीर जी !!

दिल की चाह

वीर जिनेश्वर आपका सच्चा भक्त बन जाऊँ मैं ।
पाप भरी भ्रम-वासना दिल से समस्त हटाऊँ मैं ॥

शान्त हृदय में द्वेष की भड़कें न कभी चिनगारियाँ ।
शत्रुजनों पै भी सदा प्रेम की गंगा बहाऊँ मैं ॥

दीन-दुखी को देख कर आँसू बहाऊँ रो उठूँ ।
जैसे बने सर्वस्व भी देके सुखी बनाऊँ मैं ॥

कैसा भी भीषण कष्ट हो प्रण से न तिलभर भी डिगूँ ।
हँसता रहूँ कर्तव्य की वेदी पे शीश चढ़ाऊँ मैं ॥

छोटे-बड़े का भेद तज सेवक बनूँ मैं विश्व का ।
अपने बिगाने की विषभरी दिल से दुई मिटाऊँ मैं ॥

धर्म की लेके आड़ मैं मत-पक्ष करूँ न कभी खड़ा ।
सत्य जहाँ भी मिले वहीं पूर्णतया झुक जाऊँ मैं ॥

स्वर्ग सुरेश न मोक्ष की इच्छा नहीं कुछ भी 'अमर' ।
अब तो यही है कामना सफल नृ-जन्म बनाऊँ मैं ॥

मन की कामना

प्रभो मेरा हृदय गुण-सिन्धु अपरम्पार हो जाए।
सफल सब ओर से पावन मनुज अवतार हो जाए॥

खुशी हो रज हो कुछ हो, रहूँ मैं एक-सा हर दम।
हृदय के यन्त्र पर मेरा अटल अधिकार हो जाए॥

जरा-सा भी मिले मुझ मे न ढूँढा चिन्ह ईर्ष्या का।
परोन्नति देख कर दिल हर्ष से सरशार हो जाए॥

अह के और त्व के द्वन्द्व हो सब दूर मुझमे से।
भुला दे स्वर्ग को वह प्रेम का ससार हो जाए॥

सच्चाई का निभाऊँ प्रण, नही पीछे हटूँ हर्गिज।
भले ही खण्डश इस देह का सहार हो जाए॥

दुखी को देख मैं दुखित बनूँ सेवा मे जुट जाऊँ।
दया का दिल के हर कण मे मधुर संचार हो जाए॥

मुझे स्वर्गीय सुख-साम्राज्य की कुछ भी नही इच्छा।
'अमर' तो बस प्रभो तव नाम पर बलिहार हो जाए॥

मनुष्य कौन

मनुष्य क्या अदृष्ट की जो ठोकरें न सह सके
मनुष्य क्या जो संकटों के बीच खुश न रह सके।
मनुष्य क्या तूफान में जो क्षुब्ध भीम सिन्धु में
उठा के तीव्र वेग से न लहर बनके बह सके॥

मनुष्य क्या जो चमचमाते खंजरों की छाँह में
हाँ मुस्करा के गर्व से न सत्य बात कह सके।
मनुष्य क्या जो रोते-रोते जन बसे जहान से
दिखा प्रचण्ड आत्मबल न भीम राह गह सके॥

मनुष्य क्या जो वासना का पूर्णहार था 'भ्रमर'!
हिमाद्रि शृङ्ग से भी ऊँचे अपने प्रण से बह सके॥

चाह

चाह नहीं सुर-धाम स्वर्ग में देवराज बन जाने की।
चाह नहीं बन धर्म-प्रवर्तक जग में पैर पुजाने की॥

चाह नहीं दुर्दम योगी बन विश्वजयी कहलाने की।
चाह नहीं धन राशि अमित पा धन-कुबेर पद पाने की॥

चाह यही अज्ञान-गर्त से पड़ा रहूँ पथ में भगवन्।
दुखी-दीन-दुर्बल की खातिर हो पाऊँ हँस-हँस बलिदान॥

जीवन की परिभाषा

मनुष्य बन लगा दौड, विषयो से मुख मोड ।
भूल न जाना, ओ प्राणी ! भूल न जाना ॥

जीवन है इक लहर सिन्धु की, इत आए, उत जाए ।
धम-कर्म कुछ किया ना जिसने, वह पीछे पछताए ॥

नरक मे मिले ठौर, पावे दु ख अति घोर ।
मन कलपाना, ओ प्राणी ! भूल न जाना ॥

पाकर कुछ चाँदी के टुकडे, काहे जोर दिखाए ।
कौडी सग चले कब तेरे, किस पर शोर मचाए ?

आवे कोई द्वार दु खी, शीघ्र बनाना सुखी ।
जग-यश पाना, ओ प्राणी ! भूल न जाना ॥

बडे-बडे राजा-महाराजा, आए जग पर छाए ।
लगा काल का चपत अन्त मे, ढूँढे खोज न पाए ॥

तू तो सीधा बन चल, काहे करे कल-कल ।
गर्व नशाना, ओ प्राणी ! भूल न जाना ॥

भक्ति-भाव से झूम-झूमकर क्यो न ईश गुण गाए ?
शुष्क हृदय मे 'अमर' प्रेम का क्यो न सुरस बरसाए ॥

पाप-मल सारे छूटे, दुख-द्वन्द्व सभी हटे ।
'जिन' बन जाना, ओ प्राणी ! भूल न जाना ॥

मनुष्य कौन

मनुष्य क्या अदृष्ट की जो ठोकरें न सह सके
मनुष्य क्या जो संकटों के बीच खड़ा न रह सके।
मनुष्य क्या तूफान से जो क्षुब्ध भीम-सिन्धु में
उठा के शीश वेग से न लहर बनके बह सके॥

मनुष्य क्या जो चमचमाते खंजरों की छाँह में
हाँ मुस्करा के गर्व से न सत्य बात कह सके।
मनुष्य क्या जो रोते-रोते चल बसे जहान से
बिना प्रयत्न आत्मबल न भीम राह गह सके॥

मनुष्य क्या जो वासना का पुष्पहार पा 'भ्रमर' !
हिमाद्रि-शृङ्ग से भी ऊँचे अपने प्रण से ढह सके !!

चाह

चाह नहीं सुख-धाम स्वर्ग में देवराज बन जाने की।
चाह नहीं बन धर्म-प्रवर्तक जग में पैर पुजाने की॥

चाह नहीं दुर्जय कोटी सम विश्वजयी कहलाने की।
चाह नहीं धन-राशि अमित पा धन-कुबेर पद पाने की॥

चाह यही अज्ञात-रूप से पड़ा रहूँ जग में भगवन्।
दुखी-दीन-दुर्बल की खातिर हो जाऊँ हँस-हँस बलिदान॥

जीवन की परिभाषा

मनुष्य बन लगा दौड़, विषयों से मुख मोड़।
भूल न जाना, ओ प्राणी ! भूल न जाना ॥

जीवन है इक लहर सिन्धु की, इत आए, उत जाए।
धर्म-कर्म कुछ किया ना जिसने, वह पीछे पछताए ॥

नरक में मिले ठौर, पावे दुःख अति घोर।
मन कलपाना, ओ प्राणी ! भूल न जाना ॥

पाकर कुछ चाँदी के टुकड़े, काहे जोर दिखाए।
कौड़ी सग चले न तेरे, किस पर शोर मचाए ?

आवे कोई द्वारे दुःखी, शीघ्र बनाना सुखी।
जग-यश पाना, ओ प्राणी ! भूल न जाना ॥

बड़े-बड़े राजा-महाराजा, आए जग पर छाए।
लगा काल का चपत अन्त में, ढूँढे खोज न पाए ॥

तू तो सीधा बन चल, काहे करे कल-कल।
गर्व न गाना, ओ प्राणी ! भूल न जाना ॥

भक्ति-भाव में झूम-झूमकर क्यों न ईश गुण गाए ?
शुष्क हृदय में 'अमर' प्रेम का क्यों न सुरस बरसाए ॥

पाप-मल सारे छूटें, दुख-द्वन्द्व सभी हटें।
'जिन' बन जाना, ओ प्राणी ! भूल न जाना ॥

जीवन में मधु घोल !

बोल मन ! अब भी आँखें खोल !
उठ जाग कुछ, मिला हुआ है जीवन अति अनमोल !!

जग-पति के चरणों में सो जा
प्रेम-सुधा पी पागल हो जा ।
अपनेपन में अघ इति खो जा
भ्रम की मदिरा ढोल ।।जीवन---

देख दुखी को झट हिल जा तू
सेवा में खिल-खिल खिल जा तू ।
दर्दी बन संग मिल जा तू
बोल न कुछ भी बोल ।।जीवन---

'भ्रमर' भ्रमर पथ पर पग धर ले
दुस्तर तम भवसागर तर ले ।
अन्दर बाहर सुधा भर ले
जीवन में मधु घोल ।।जीवन---

वीर जिनेश्वर सोई दुनियाँ जगाई तूने !
ज्ञान की मधुर सुरीली वशी बजाई तूने !!
भारत की नैया डोली,
मृत्यु आ सिर पर बोली,
स्वर्ग से आकर भगवन् ! पार लगाई तूने !
पशुओ पै छुरियाँ चलती,
रक्त की नदियाँ बहती,
करुणा के सागर करुणा—गगा बहाई तूने !
देवो की करना पूजा,
बस, काम था और न दूजा,
मानव की अटल प्रतिष्ठा जग मे जताई तूने !
पन्थो का झूठा झगडा,
जनता का मानस बिगडा,
भेद-सहिष्णुता की रक्खी सचाई तूने !
पाप का पक धोना,
नर से नारायण होना,
'अमर' अमर पद की राह दिखाई तूने !

हठीले भाई ! जाग-जाग अन्तर में ।
छाई काली घटा घुमड़ के
माया अम्बर प्रबल उमड़ के
ज्ञान-दीप बुझने ना पाए, सावधान अन्तर में !
भोगों में ही जीवन गाला
लक्ष्य न अपना तनिक सँभाला ।
मानव क्या नरमानुष ही है समझ नहीं अन्तर में !
साथी तेरे गए अगाड़ी
तू क्यों सोता पड़ा अनाड़ी
देख ! पिछड़ना ठीक नहीं है जीवन के संगर मे !
कायर बन कर रोता क्या है
'अमर' रुदन से होता क्या है ?
कमर बाँध कर उट्ठ खुला है शंकर इस कंकर मे !
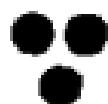
मैं न हूँ किसी तरह भी हीन,
अमल-अमल आनन्द जलधि का, मैं हूँ सुखिया मीन।
ससारी झंझट का चहुँ दिश बिछा हुआ है जाल,
बिछा रहे, मुझको न कभी भी, होता तनिक खयाल।
मैं तो हूँ अपने मे लवलीन ॥

आत्म-लक्ष्य से मुझे डिगाते, हो अरबो आघात,
वज्र प्रकृति का बना हुआ हूँ, क्या डिगने की बात।
स्वप्न मे भी न बनूँगा दीन ॥

भवसागर से तैर रहा हूँ, हुआ समझ लो पार,
क्या चिन्ता अब खुला, खुला वह मोक्षपुरी का द्वार।
विश्व मे मैं हूँ इक स्वाधीन ॥

हानि-लाभ हो, स्तुति-निन्दा, मान और अपमान,
अच्छा-बुरा भले कुछ भी हो, मैं सब से बे भान।
कौन क्या देगा, लेगा छीन ॥

अन्धकार विध्वस्त हुआ है बढा ज्ञान—आलोक,
'अमर' शान्ति-सन्देश सुनेगा, सकल चराचर लोक।
समुन्नत हूँ मैं नित्य नवीन ॥

प्राप्त हुआ है किस जगत में पूजा का अधिकार?
छोटे से छोटे जीवों पर रखता कृपा अपार,
अखिल विश्व में सदा बहाता प्रभु भाव की धार!
प्रेम में डूबा सब संसार!!

ईर्ष्या-क्लेश का लेश नहीं है नहीं धूम्र कुविचार,
स्वच्छ हृदय है, उठे कहीं नहीं जरा कुविकार!
पूर्ण है संयम का अवतार!!

कैसा भी कोई भी अपना करे क्यों न अपकार,
शान्ति-पूर्ण उपकार रूप में करता है प्रतिकार!
क्षमा का खुला रखे नित द्वार!!

अपना-पर का भेद मिटाकर कर ले हृदय उदार,
ज्ञान-क्रिया के पथ पर सब लुटा दिए भण्डार!
विश्व का बने एक आधार!!
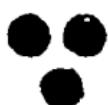
मन-वाणी और कर्म—सभी में अमृत का संचार,
आस-पास में लाखों कोसों नहीं तनिक भी खार!
'अमर' है मृत्युञ्जय हुंकार!!

मनुज हूँ, मैं यहां मनुजत्व का उपहार लाया हूँ।
हिमालय-सा अतुल कर्त्तव्य का शिर-भार लाया हूँ॥

मिलेगा जो मुझे आनन्द मद मे झूम जाएगा।
हृदय मे प्रेम-वीणा की मधुर झनकार लाया हूँ॥

सुगधित पुष्प हूँ, खिलकर सुगधित विश्व कर दूँगा।
कभी भी कम न हो, वह गन्ध का भण्डार लाया हूँ॥

सताएंगे मुझे क्यो कर, कुटिल रिपु काम-क्रोधादिक।
चमकती ज्ञान की तीक्षण, अटल तलवार लाया हूँ॥

पडे आपत्तियो के वज्र शिर पर क्यो न कितने ही।
हटूँगा इन्च ना पीछे, विजय का सार लाया हूँ॥

मिटेंगे देश-कुल और जाति के सब भेद जग मे से।
अखिल भू पर बसा नर-जाति का परिवार लाया हूँ॥

बदल दूँगा सभी हा-हा भरी यह नर्क की दुनियां।
'अमर' सुन्दर शिवकर स्वर्ग का ससार लाया हूँ॥

क्या बिन बावरिया हीरा जन्म गँवाए।
कि पत्थर से बिस को क्यों ना फूल बनाए॥

कोमलता का भाव न मन में
फिर क्या सुन्दरता से तन में।
जीवन विष बरसाए॥

दीन-दुखी की सेवा कर ले
पाप-कालिमा अपनी हर ले।
तिहुँ-जग मंगल पाए॥

धन-लक्ष्मी का गर्व न करना
आखिर को सब तजकर मरना।
पर-हित क्यों न लुटाए॥

यह जीवन है एक कहानी
पाप-पुण्य है शेष निशानी।
'भ्रमर' सत्य समझाए॥
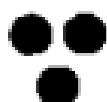
कविता

करो गुणो का प्रविकाश पूर्वत ,
स्वय खिचे सेवक लाख आएँगे।
प्रसून ज्यो ही इक बाग मे खिला ,
द्विरेफ त्यो ही झट आ गुजाएँगे ॥

मनुष्य जो हो गुण-हीन वे भला ,
यश प्रतिष्ठा स्तुति पा सकें कहाँ !
शरासनो का गुण-युक्त मान है ,
वराटिका भी नहि मूल्य है कहाँ ?

छिपी कभी है गरिमा गुणौघ की ?
असत्य निन्दामय कुप्रचार से।
दवा सहस्राशु कभी प्रभात मे ?
विभावरी-सचित अन्धकार से।

विकार की कुत्सित कालिमा जमी ,
विचार का ले जल साफ कीजिए।
महान् है दर्पण चित्त-शुद्धि का
निजातमा का फिर दर्श लीजिए।
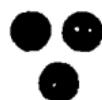
पुस्तक ! तुम हो कितनी सुन्दर ?
बड़ी विलक्षण ! बड़ी मनोहर !
मंगल-मय अस्तित्व तुम्हारा
लगता है प्राणों से प्यारा !!

अक्षर-अक्षर मधुर अनूठा
बिना तुम्हारे सब जग झूठा !
बहते विमल भाव के झरने
त्रिविध ताप जगती का हरने !!

पढ़ते ही हो दूर अन्धेरा
अन्तर्मन में स्वर्ण सवेरा !
कागज का तुम पट-तन धारे
करती नित हित मौन इशारे !!

स्वर्ग भूमि पाताल नदी नग
प्रतिबिम्बित है तुम सब जग !
भूत भविष्यत वर्तमान से
भेंट कराती बड़ी शान से !!

अवम से किस भाँति महान् हो ?
प्रणत हो, न कभी अभिमान हो।
स्वपर-शकर कार्य-वितान हो,
तनिक भी ममता-तवता न हो॥

सुयश-केतु कदा फहराएगा ?
पतित के प्रति प्रेम दिखाएगा।
समझ बन्धु स्वकण्ठ लगाएगा,
नहिं घृणा कर नाक चढाएगा॥

अटल सत्यव्रती कब से बने ?
जब कि सत्य कहे मधु से सने।
मरण तुल्य सहे दुख भी घने,
पर रहे प्रण पै अपने तने॥

पशु-सखा नर कौन यहाँ हुआ ?
शठ निजोदर-पूरक जो हुआ।
कलुष काम-मदोद्धत जो हुआ,
तज विवेक परानुग जो हुआ॥

नर-कलेवर पाकर क्या किया ?
पर-हितार्थ निजार्थ भुला दिया।
तन-धनादि सहर्ष लुटा दिया,
जगत-जन्म कृतार्थ कहा दिया॥

विबुध क्यों जगतीतल मे बढा ?
सदुपदेश सदा करता कडा।
मत स्वदेश जिला करता खडा,
विकट सकट मे रहता अडा।

किस प्रकार विराम विचारता ?

मनुज-जीवन विपुल-वंचना।
स्वजन वैभव बुद्बुद व्यंजना
जगत स्वप्न प्रपेति प्रवंचना॥

युग-गिरा किसकी श्रवणीय है ?

चरित चारु समाचरणीय है।
विमल बोध समादरणीय है
तप व त्याग चिरस्मरणीय है॥

●●
○

कवि और शुक

कैसा सुवर्ण-मय सुन्दर पिंजड़ा है
प्रासादि खाद्य बहु-भाँति भरा पड़ा है।

आनन्द से सतत खेद जरा नहीं है
तेरे समान शुक ! अन्य सुखी नहीं है॥

हाँ ठीक है—ऊपरि ढंग बुरा नहीं है
मनुष्य किन्तु दुखिया मन में सही है।

ज्वालामुखी हृदय में फटता रहा है
स्वतन्त्रता-हीन बन कौन सुखी रहा है ?

●●
○

भक्ति-भाव का सुन्दर दृढतम,
द्रुत - गामी ही नव-जलयान।
पार करे शतशत भव-चर्चित,
अति दुस्तर भव-सिन्धु महान्॥

जिनकी रग-रग मे न खौलता,
भव्य-भक्ति का अभिनव रक्त।
हृदय-हीन श्रद्धा-विरहित वे,
हो सकते है क्यो कर भक्त?

ज्यो पारस के स्पर्श-मात्र से,
बनता लोह कनक द्युति पूर्ण।
पामर भक्त विरक्त भक्ति-रत,
त्यो भगवान् बने अति तूर्ण॥

भक्ति-योग सर्वोच्च योग है,
अगर साथ हो उचित विवेक।
सर्वनाश का बीज अन्यथा—,
अन्ध भक्ति का है अतिरेक॥

सरिता-तटवर्ती नगरों को
रहता है आनन्द अपार।
किन्तु बाढ़ में वही मचाती
प्रलय काल-सा हा-हाकार॥

अग्नि बिना न चलता है सब
पाक आदि जग का व्यवहार।
किन्तु उसी से क्षण-भर में हा!
भस्म राशि होता घर-बार॥

सघन जलद भूमी मिली में
करता नव-जीवन संचार।
वही गगन में प्रलय-काल हो
करे मूल से सब संहार॥

विष-सम प्राण-हा भी विषमाला
यम-पुर का पट रौद्र-द्वार।
किन्तु बना दुःसाध्य रोग से
बने कभी जीवन-दातार॥

भला—बुरा एकान्त न कोई
देखो जग में आँख पसार।
अखिल सृष्टि गुण दोषमयी है
किस पर करिए द्वेष और प्यार॥

●●
●

हंस ! तुम्हारी दुग्ध-धौत-सी,
निर्मल काया।
नहीं प्रशंसित क्योंकि तुम्हीं-सा,
बक भी पाया॥

मानसरोवर- वास श्रेष्ठता,
क्या कथ गावे?
जलचर वृन्द अनेक जन्म,
जब वहीं बितावे॥

बड़े गर्व से अकड़-धकड़,
क्या मोती चुगते।
तुम से मत्स्य प्रशस्य,
मोती जो पैदा करते॥

हाँ, इक बात विशेष तुम्हारी,
सब जग जानी।
करो दुग्ध का दुग्ध,
शीघ्र पानी का पानी॥

इसी बात पर मान तुम्हारा,
जग यश गाता।
वैभव का नहीं मान,
न्याय ही आदर पाता॥

सरिता-तटवर्ती नगरों को
रहता है आनन्द अपार।
किन्तु बाढ़ में वही मचाती
प्रलय काल-सा हा-हाकार॥

अग्नि कृपा से चलता है सब
पाक आदि जग का व्यवहार।
किन्तु उसी से क्षण भर में हा!
भस्म राशि होता घर-बार॥

सघन जलद सूखी खेती में
करता नव-जीवन संचार।
वही असमय में कृषक-काल हो
करे मूल से सब संहार॥

विष-सम अपथ्य-सा भी दिखलाता
यम-पुर का झट शीघ्र-द्वार।
किन्तु दवा दुःसाध्य रोग से
बने कभी जीवन-दातार॥

अतः—बुरा एकान्त न कोई
देखो जग में आँख पसार।
अखिल सृष्टि गुण दोषमयी है
किस पर करिए द्वेष और प्यार॥

●●
●

हंस! तुम्हारी दुग्ध-धौत-सी,
निर्मल काया।
नही प्रशंसित क्योंकि तुम्हीं-सा,
बक भी पाया॥

मानसरोवर- वास श्रेष्ठता,
क्या कथ गावें?
जलचर वृन्द अनेक जन्म,
जब वहीं वितावें॥

बडे गर्व से अकड-धकड,
क्या मोती चुगते।
तुम से मत्स्य प्रशस्य,
मोती जो पैदा करते॥

हाँ, इक बात विशेष तुम्हारी,
सब जग जानी।
करो दुग्ध का दुग्ध,
शीघ्र पानी का पानी॥

इसी बात पर मात्र तुम्हारा,
जग यश गाता।
वैभव का नहीं मान,
न्याय ही आदर पाता॥

उद्बोधन

अरे वीर पुत्रो ! सुनो अब न सोओ
मैंमम के उगा स्व-जीवन न खोओ !
जरा देखो बस्ती यह क्या हो रहा है,
जमाना किधर से किधर हो रहा है ?

सभी लोग आगे बढ़े जा रहे हैं
पवन-वेग सर-सर चले जा रहे हैं।
बड़ा खेद है—तुम पड़े ऊँघते हो
नहीं अपनी बाबत कभी सोचते हो ?

छुपी हैं तुम्हारे में क्या-क्या प्रथाएँ,
लगी हैं तुम्हारे भी क्या-क्या बलाएँ ?
परस्पर सभी मत्त क्यों लड़ रहे हो
प्रलय की प्रबल आँधी में पड़ रहे हो ।।

शरम है नहीं धर्म से फिर गए हो
महावीर-आदर्श से गिर गए हो।
भला पुत्र वे जग में कैसे बड़े हों
पिता के सुमादर्श से जो गिरे हों ।।

समझ अपने आदर्श को फिर सँभालो
हृदय में 'अमर' वीर-वाणी बसालो।
समुद्र कार्य के क्षेत्र में कूद आओ
सदा वीर-जय से गगन को गुँजाओ ।।

खण्ड काव्य

भाग्य-शाली था सुवासर,
अखिल जैन-समाज हितकर,
भाद्रपद सुदि छठ अनूपम,
नेत्र-रस-गज-चन्द्र वत्सर!
छोड कर ससार-पथ,
मुनि-धर्म का बाना सजाया,
गुरु तपोधन हरजीमल जी —
के चरण मे शिर नवाया!

भार सयम का हिमालय —
भी उठाया आत्म-बल से,
हो गए बस दूर सन्तति —
की महामाया कुटिल से!
एक केवल 'मैं' व 'मेरा' —
का सभी सम्बन्ध तोडा,
विश्व को अपना बना,
परमार्थ मे सम्बन्ध जोडा!

भाग्य-शाली था सुवासर,
अखिल जैन-समाज हितकर,
भाद्रपद सुदि छठ अनूपम,
नेत्र-रस-गज-चन्द्र वत्सर।
छोड कर ससार-पथ,
मुनि-धर्म का बाना सजाया,
गुरु तपोधन हरजीमल जी —
के चरण मे शिर नवाया।

भार सयम का हिमालय —
भी उठाया आत्म-बल मे,
हो गए बस दूर सस्मृति —
की महामाया कुटिल से।
एक केवल 'मैं' व 'मेरा' —
का सभी सम्बन्ध तोडा,
विश्व को अपना बना,
परमार्थ से सम्बन्ध जोडा।

वासनाओं का हृदय में
तीव्र विष जब तक न निकले
छोड़ कर घर-बार सब
बन साधु निकले कुछ न निकले !
भोग के कीड़े – न बनना—
साधुता का वेष ले कर
पावन आदर्श उज्ज्वल
कर दिखाया वेष ले कर !

ज्ञान-शून्य विमूढ़ साधु
क्या स्वपर-हित साध सकता ?
ज्ञान-ज्योति मिले बिना क्या
हृदय का अन्धार मिटता ?
पूज्य मरमीचन्द्र गुरु से —
ज्ञान का अभ्यास कीना
न्याय-निगमागम, सभी—
साहित्य का शुभ सार लीना ।

अन्त मे सस्नेह गुरु का,
पूर्ण आशीर्वाद पाकर,
देश और विदेश मे सब—
ओर घूमे दिल लगा कर।
जहाँ कही पहुँचे वही पर,
बुद्धि का वैभव दिखाया,
भक्त जन-कृत्य जय निनादो—
से दिशा-मडल गुजाया!

शीघ्र ही ऊँचे उठे, चहुँ—
ओर कीर्ति-वितान फैला,
पूर्ण गुरु का पूर्ण दीक्षित—
सूर्य रह सकता न मैला।
तेज वेला पर उदित हो,
जग-मगा देता महीतल,
हर्ष मे सत्स्फूर्ति पाते,
जगत के सब जन अचचल।

घूम कर पंजाब प्रान्तिक
फिर लिया मरुधर पावन
यह सभी व्याख्यान झड़ियाँ
बरसता था मास सावन!
शुष्कतम जन-हृदय फिर से
नव्य जीवन पा गए थे
आप के श्रीमुख सुने प्रभु —
वीर-प्रवचन आ गए थे।

जो यहाँ जैसा गुरु यति —
ठीक वैसा आचरेगा
तार देगा दूसरों को
और वह खुद भी तरेगा!
आचरण की है महत्ता
आदि-युग से जैन-जग में
मात्र वाणी फलवती नहीं
हो न सकती कार्यमय में!

साधुता का उग्र जीवन,
आप का देखा सभी ने,
मूर्तिमान महान् आदर्श,
त्याग का देखा सभी ने।
भक्ति-भाव विनम्र श्रावक,
चरण-कमलो मे झुके सब,
भक्त-जन सच्चे गुरु को —
पा कही रुकते भला कब ?

एक वार विचार गुरु ने
किया —" जैसलमेर जावें,
वीर-स्वामी का सन्देशा,
भव्य जीवो को सुनावें।"
पर, उपस्थित सर्व श्रावक,
नट गए —"हर्गिज न जावे,
व्यर्थ वहाँ विगडे दिलो से,
क्यो गुरो! अपमान पावे?"

बात ऐसी क्या कहीं है ?
हँस पुनः गुरु देव बोले
श्रावकों ने भी हृदय के
क्षुब्ध भाव समस्त खोले !
श्री गुरो ! कुछ वर्ष से यहाँ
जन विकृत-मस्तक हुए हैं
साधुओं को कुछ न समझें
मात्र सुख शोषक हुए हैं ॥

रात्रि-दिन बस ज्ञान-चर्चा
पूर्ण है अध्यात्म-वाणी
मात्र निश्चय पर अड़े हैं
लोक-व्यवहृति सब उठा दी ।
परन्तु कोई भी न मुनि अब
पूज जैसलमेर है पाता
जो कभी आता बिचारा
वह अमित अपमान पाता ॥

महाकाव्य

मानव-भव का सार यही है, सदाचार का अपनाना।
पूर्णरूप से शुद्ध श्रेष्ठ आदर्श जगत मे बन जाना॥

वह मनुष्य क्या सदाचार का पन्थ न जिसने अपनाया।
नर-चोले मे राक्षस-सा अधमाधम जीवन दिखलाया॥

सदाचार है पतित-पावनी गगा की निर्मल धारा।
पापाचार-दैत्य-दल-दलनी चन्द्र-हास की है धारा॥

पण्डित ज्ञानी बन जाने का यही सार बतलाया है।
'तोता-रटन' अन्यथा निष्फल शास्त्र-पठन कहलाया है॥

अखिल धर्म के नेताओ ने महिमा इसकी है गायी।
और इसी के बल पर सबने सर्वोत्तम पदवी पायी॥

आओ, मित्रो! चलें जहाँ पर सदाचार की झलक मिले।
सदाचार-वेदी पर बलि होने का उच्चादर्श मिले॥

सज्जनता की दुर्जनता पर विजय यहाँ बतलानी है।
नर-देही यह देव-दैत्य-द्वन्द्वो की एक कहानी है॥

भारत मे चम्पा का भी क्या ही इतिहास पुराना है।
लाख-लाख वर्षों का इसके पीछे ताना-बाना है॥

मानवता के नाना रूपक चम्पा मे उद्भूत हुए।
कामदेव से रत्न अमोलक यही विश्व-विख्यात हुए॥

इसी रत्न नर-माला मे इक रत्न और जुड जाता है।
वीर सुदर्शन सेठ अलौकिक अपनी चमक दिखाता है॥

स्नेह मूर्ति था द्वेष-क्लेश का लेशमात्र था नाम नही।
स्वप्न तलक मे भी झगडे-टटे का था कुछ काम नही॥

दीनों की सेवा करने में निश-दिन तत्पर रहता था।
नर-सेवा में नारायण-सेवा का तत्व समझता था।

भूला-भटका दुखी-दीन जब कभी द्वार पर आता था।
आस्वासन सत्कार-पूर्ण सस्नेह यथोचित पाता था॥

जीवन की आँधी में भी वह सदाचार का पक्का था।
निज पत्नी के सिवा गुरु से ही नाते का सच्चा था॥

बाल्य-काल में श्रावक-व्रत के नियम गुरु से धारे थे।
धारे क्या अनुभव के बल पर निज अन्तर में तारे थे॥

न्याय-मार्ग से द्रव्य कमा कर न्याय-मार्ग में देता था।
सकुशल जीवन-नैया अपनी अगम-सिन्धु में खेता था॥

भाग्य-योग से गृह-पत्नी भी थी मनोरमा शीलवती।
प्राण-नाथ की पूजा करने वाली पति के मन-गमती॥

दासी-दास कुटुम्ब—सभी नित रहते थे आज्ञाकारी।
बोला करती थी मानो ही मृदु-वाणी सब जन-प्रियकारी॥

देश धर्म जाति सेवा में पति का हाथ बँटाती थी।
क्लेश-द्वेष मात्सर्य कहीं के निकट नहीं आ पाती थी॥

गृह-कार्यों में चतुर सुविदुषी देश-काल का रखती ध्यान।
पर-पुरुषों को अन्तर मन में पिता-बन्धु सम देती मान॥

प्रकृति नटी का नृत्य

रग-मच पर प्रकृति नटी के परिवर्तन नित होते हैं ।
अच्छे और बुरे नाना विध दृश्य दृष्टिगत होते हैं ॥

पतन और उत्थान यथा-क्रम आते-जाते रहते है ।
क्षण-भगुर ससृति का रेखा-चित्र खीचते रहते हैं ॥

जीवन मे सुख-दु खादिक का चक्र निरन्तर फिरता है ।
मानव पद के गुण-गौरव का सफल परीक्षण करता है ॥

सकट की घन-घटा सेठ पर भी अब छाने वाली है ।
वैश्य धर्म की अग्नि-परीक्षा उत्कट होने वाली है ॥

स्वीकृत प्रण की मर्यादा को सेठ सगर्व बचाएगा ।
अखिल जगत मे सत्य सुयश का दुन्दुभि नाद बजाएगा ॥

शीतानन्तर ठाट-बाट मे ऋतु वसन्त झुक आया है ।
मन्द सुगन्धित मलय समीरण मादकता भर लाया है ॥

छोटे-मोटे सभी द्रुमो पर गहरी हरियाली छाई ।
रम्य हरित परिधान पहन कर प्रकृति प्रेयसी मुसकाई ॥

रग-बिरगे पुष्पो से तरु-लता सभी आच्छादित हैं ।
भ्रमर-निकर झकार रहे वन-उपवन सभी सुगन्धित हैं ॥

कोकिल-कुल स्वच्छन्द रूप मे आम्र-मजरी खाते हैं ।
अन्तर-वेधक प्यारा पचम राग मधुर स्वर गाते हैं ॥

अखिल सृष्टि के अणु-अणु मे नव-यौवन का रग छाया है ।
कामदेव का अजब नशा जड-चेतन पर झलकाया है ॥

सती शिरोमणि मनोरमा निज राज-भवन में बैठी थी ।
आस-पास मृदु-सुख बिखरा था हर्ष-सिन्धु में पैठी थी ॥

प्रेम-मग्न होकर पति के चरणों में ध्यान लगाया था ।
पौषध व्रत के नियम पालने का सामान जुटाया था ॥

भाग्यचक्र का चक्र शीघ्र ही फिरा रंग में भंग हुआ ।
सूली की जो खबर लगी तो सभी रंग बदरंग हुआ ॥

हा-हाकार मचा घर-घर में आँसू का दरियाव बहा ।
नौकर-चाकर परिजन सब में नहीं शोक का पार रहा ॥

सब से बढ़कर थी मनोरमा दुःख-भार से विह्वल थी ।
चित्तवृत्ति अति व्यग्र हुई थी नहीं जरा-सी भी कल थी ॥

हंत ! रक्त-जल मछली के मानिन्द अतीव तड़पती थी ।
मूर्छित होकर बार-बार बेहोश भूमि पर पड़ती थी ॥

"प्राणनाथ ! यह क्या सुनती हूँ, छाती मेरी फटती है ।
रोम-रोम में दुःख-वेदना प्रतिपल सर-सर बढ़ती है ॥

धूली पर वह पुष्पलता सी देह चढ़ाई जाएगी ।
हाय तुम्हारी चरण—सेविका कैसे फिर सुख पाएगी ॥

गगनचन्द्र हो नाथ ! आप मैं ज्योत्स्ना चन्द्रिका प्यारी हूँ ।
पुष्प मनोहर आप और मैं प्रिय सुगन्ध सुख-कारी हूँ ॥

तुम हो सघन जलद प्रियतम मैं अंतरंग जल-धारा हूँ ।
तुम हो पुरुष और मैं हरदम साथ लगी तन छाया हूँ ॥

नाथ ! हाँ न यह सहन हो सकेगा न कदाचित् भी मुझ से ।
पति-पत्नी की एक ही मूर्ति है अलग रहूँ कैसे तुम से ॥

छोड दुःख मे मुझे अकेली आप स्वर्ग मे जाओगे।
तोडोगे क्या स्नेह-शृङ्खला, प्रेमी-व्रत न निभाओगे ॥

राजा ने यह कौन जन्म का हम मे बदला लीना है।
हाय अचानक शूली का जो हुक्म भयकर दीना है ॥

मेरे पति व्यभिचारी हो, यह हो ही कैसे सकता है ?
सदाचार मे उन जैसा दृढ और कौन हो सकता है ?

राजा ने बस द्वेष-भाव से झूठा जाल बिछाया है।
शील-मूर्ति मम पति के प्राणो पर यह वज्र गिराया है ॥"

"हरिश्चन्द्र थे सत्य के व्रती एक सुजान ।
सानुराग जीवन सुनें करें पाप के नाश ॥"

आदि-काल में ऋषभदेव ने
कहाँ धर्म-ध्वज फहराया ?
कर्म-विमुख जनता को सत्पथ
कर्म-योग का बतलाया ?

कहो कौन-सी नगरी है यह
जहाँ भरत का शासन था ?
सुखी प्रजा को जहाँ पुण्य-सम
कभी स्वर्ग–सिंहासन था !

भारत का यह गौरव बनकर
यही अयोध्या नगरी है;
सरयू की कल-कल जलधारा
बहती कितनी सुघरी है

लक्ष्मी ने शृङ्गार अनूठा
क्या सब ओर सजाया है !
स्वर्ग-लोक की चमक का भी
सब सौभाग्य लजाया है ।

सूर्य-वंश-धर हरिश्चन्द्र है,
राज-मुकुट के अधिकारी
प्रजा पुत्र—सम पालन करते
नीति—युक्त पुण्याचारी !

हृदय-कमल में करुणामृत है,
कर—कमलों में दानामृत,
मुख-मण्डल पर हास्यामृत है,
जिह्वा में मधु वचनामृत !

दुराचार का नाम नहीं है,
सदाचार की अर्चा है,
दूर-दूर तक—"यथा भूपति
तथा प्रजा"—की चर्चा है !

पर-धन पर-वनिता पर कोई,
कभी नहीं है ललचाता,
अपने बल-उद्यम पर सबका,
जीवन-रथ है गति पाता !

कविता की भाषा में कह दूं,
चन्द्र-कला में क्षय केवल,
दण्ड वृद्ध का आलम्बन या
कुम्भकार का है सम्बल !

जनता के मन में न कालिमा,
कृष्ण भ्रमर है फूलों पर,
घृणा किसी को नहीं किसी से,
घृणा पाप के कूलों पर !

चचलता सरिता लहरों में,
मणि-माला में बन्धन है,
सर्प जाति में मात्र वक्रिमा,
सरल प्रकृति में जन-मन है !

"जीवन की गति विकट है सदा न रहती एक।
विश्व-महोदधि में सतत उठतीं वीचि अनेक॥"

भारतीय संस्कृति में सब ने—
ऋषी—मुनों ने गाये हैं
पति-पत्नी स्वर्गीय मार्ग के—
अविचल पथिक बताए हैं!

पति-पत्नी में जहाँ प्रेम का
अमृत-सागर लहराता
दुःख-द्वन्द्व क्या कभी भूलकर,
वहाँ फटकने भी आता?

किन्तु प्रेम की सीमा है कुछ,
सीमा ही जय-भूषण है
सीमा के बिन अच्छा से हाँ
अच्छा पथ भी दूषण है!

रूप-मोहिनी तारा को पा
राजा होश गुमा बैठे;
विषय भोग के झूले पर सब
निज कर्तव्य भुला बैठे!

रात्रि दिवस संकल्प-लोक में
तारा तारा तारा है
राजनीति के परिचित पथ से
एक दम किया किनारा है!

जब से रोहित पुत्र हुआ, तब
से तो दशा निराली है,
जो भी था कुछ शेष कर्म-पथ,
उससे भी दृष्टि हटाली है!

कुछ रानी से, कुछ रोहित से,
बातें करते दिन जाते।
न्यायालय में कार्यार्थी जन,
प्रति-दिन शोर मचा जाते!

रानी को जब पता लगा, जन-
पद की दुख—कहानी का,
अपने को ही कारण समझा,
राजा की नादानी का!

"नारी, क्या कर्तव्य-भ्रष्ट हो,
करती जग में मानव को,
देश, जाति के जीवन में क्या
पैदा करती लाघव को!"

"सरस्वती, लक्ष्मी की सखियाँ,
क्या महलों की तितली है?
लक्ष्य-भ्रष्ट हो नर न समझा,
वे भोगों की पुतली है!"

"यही प्रेम क्या, ऋषि-मुनियों
ने, जिसकी गायी है महिमा,
नहीं प्रेम है, मोह मात्र है,
होती है जिस में लघिमा!"

"रूप-मुग्ध नर मोह-पाश में
बँधा प्रेम क्या कर सकता
श्वेत-मृतिका मोहित कैसे
जीवन-तत्त्व परख सकता !"

"मैं यौवन की रानी हूँ, बस
नहीं मोम पर झूलूँगी
रूप-योग की कण्टक-शाला
पर ही सम्भव झूलूँगी !"

'यह शोभा शृङ्गार सकल तज
तपस्विनी बन जाना है
लक्ष्य भ्रष्ट राजा को फिर से
नीति-मार्ग समझाना है !

"मात-पिता अनुसार ही होती है सन्तान
कटुक-मधुर फल वृक्ष के लगते बीज समान।"

सन्तति के गुण-दोष अधिकतर,
मात-पिता पर निर्भर है,
संस्कारों के जीवन-पट पर,
पड़ते चिन्ह प्रबलतर हैं।

शिलान्यास संस्कृति का, माता-
पिता पूर्व रख जाते हैं,
आगे चल कर पूर्व-बीज ही
यथा काल फल लाते हैं।

बालक कच्चा घट है उसको
जैसा जी चाहे, ढालें,
सुन्दर सुघड बना ले चाहे,
कुटिल कुरूप बना डालें।

हरिश्चन्द्र तारा हैं निर्भय,
धीर, वीर, साहस—शाली,
रोहित कब हो सकता है, फिर-
भला इन्हीं गुण से खाली।

रोहित देख रहा था—"माता,
नित सदर्थ भूखी रहती,
सूर्योदय से लेकर करती
काम, घोर पीडा सहती।"

"माता के भोजन में भोजन
मुझ को लेना उचित नहीं
मेरी उदर-पूर्ति के कारण
जननी भूखी ठीक नहीं।"

आओ कलियुग की सन्ताना!
रोहित के दर्शन कर लो
मातृ-भक्ति का पथ अपना कर
अन्तर का कलि-मल हर लो।

बालक है फिर भी है कितना
मातृ भक्त देखा तुमने
क्या इस युग की मातृ-भक्ति भी
पायी है ऐसा तुम ने!

वृद्ध ब्राह्मण पुष्प-चयन के—
लिए भेजता था प्रति-दिन
इधर उधर से पुष्प सुगन्धित
रोहित लाता था गिन—गिन।

एक बार फलों की धुन में
रोहित जा पहुँचा वन में
देख पुष्प फल सरस मनोहर,
हुआ हर्ष पुलकित मन में।

पक्व मधुर फल तोड़ लाए,
इधर उधर वन में घूमा
देख प्रकृति की शोभा अनुपम
हर्ष—मस्त होकर झूमा।

भारत की वन-भूमि, प्रजा की
अपनी ही निधि होती थी,
दीन—हीनतर जनता की तो,
प्रति—पालक ही होती थी।

गोचर—भूमि बडी सुन्दर थी
पशु—पालन नित होता था,
साधक जन तप-निरत कालिमा-
निज अन्तर की धोता था।

वन—फल बेच दरिद्री जन भी
अपनी गुजर चलाते थे,
वन होने से वर्षा होती,
कृषक सदा सुख पाते थे।

आज दशा है विकट, कहाँ वह
वन के दृश्य ? विलुप्त हुए,
प्रजा कष्ट से तडप रही है,
भूप लोभ—अभिभूत हुए।

मातृ—भक्त रोहित माता के
लिए मधुर कुछ फल लाया
अस्वीकृति मे भी आग्रह वश
खिला हर्ष मन मे पाया।

माता बोली—"बेटे, वन मे
तुमको भीति नही लगती,
मेरे कारण तुम दुख भोगो
सहन नही मैं कर सकती।"

'सूर्य-वंश के तिलक ! तुम्हारी
संकट—पूर्ण दशा कैसी ?
वन—फल लाकर करो गुजारा
भाग्य—हीन माता कैसी ?'

रोहित बोला— 'माता तुम तो
सिधमी बातें करती हो
मैं तो हूँ सानन्द स्वर्ग ही
तुम चिन्ता में मरती हो !"

"वन में क्या है भीति ? यहाँ पर
प्रकृति मोद बरसाती है
शीतल—मन्द—सुगन्ध पवन है
नई ताजगी लाती है !"

"अपने पाटक के जितने ही
बालक भी प्रति—दिन आते
नाना—विधि क्रीड़ाएँ करते
सरस मधुरतम फल खाते।

रोहित इसी तरह से प्रति-दिन
वन में जाता आता है
पुष्प-चयन कर वन-फल लाता
माता के प्रति लाता है।

"सत्य-धर्म का विश्व मे तेज प्रताप अखण्ड,
भौतिक वल को ध्वस्त कर पाता विजय प्रचड।"

मात्र सत्य ही अखिल जगत मे मानव-जीवन का वल है,
विना सत्य के सवल-प्रवल भी तुच्छ, सर्वथा निर्वल है।

पशु-वल आखिर पशु-वल ही है, कितना ही वह भीषण हो,
सत्य-धर्म की टक्कर खाकर, क्षण मे जर्जर कण-कण हो।

सकट नही, परीक्षा है यह यदि साहस-पूर्वक सहलें,
क्षण-भगुर ससृति मे मानव अमर नाम अपना करलें।

हरिश्चन्द्र के सत्य-धर्म का चमत्कार देखा तुमने?
अन्तिम विजय दम्भ पर पायी किस प्रकार देखा तुमने?

सकट क्या-क्या सहन किए, पर रहा पूर्णत अविचल वह,
स्वर्ण, अग्नि की ज्वाला मे से निकला वनकर निर्मल वह।

सत्य सूर्य की प्रभा स्वर्ग मे पहुँची, सुर-मण्डल आया,
देव-राज वासव ने आकर चरण-कमल मे शिर नाया।

रत्न-जटित स्वर्णिल आसन पर राजा-रानी विठलाए,
रोहित मुदित गोद मे नृप की, शोभा अति सुन्दर पाए।

दुन्दुभि-नाद श्रवण कर काशी-नगरी की वासी जनता,
मरघट मे झट दौडी आई, वडी सत्य की पावनता।

काशी के भूपति भी आए, हरिश्चन्द की सुन महिमा,
खीच न लाती किसको जग मे, वडी त्याग की है गरिमा।

कौशिक ऋषिवर, आज प्रेम की मूर्ति वने सम्मुख आए
राजा-रानी ने वन्दन कर सिंहासन पर विठलाए।

'राजन् ! सत्य-धर्म की अद्भुत महिमा तुमने दिखलाई
अग्नि-परीक्षा में भी तुम पर जरा नहीं कालिख आई !

कौन सत्य के लिए तुम्हारे जैसा संकट सह सकता ?
सुत-वियोग-से वज्रपात पर कौन धीर-दृढ़ रह सकता ?

कैसा अद्भुत त्याग ? राजसी वैभव पल-भर में छोड़ा
कैसा उज्ज्वल सत्य ? प्रिया को कफन न सुत का भी छोड़ा।

विश्वामित्र अजेय-शक्ति, पर आज पराजित है तुमसे
उच्छृंखल मित्र कर्तव्यों पर आज विलज्जित है तुमसे !

मैं मूरख क्रोधान्ध बना क्यों ? क्यों तुमसे विग्रह छेड़ा ?
विग्रह क्या छेड़ा ? मुनि-पद का बुला दिया मद-हति बेड़ा !

तुम अपूर्व विजयी इस रण में पतन हुआ मेरा भारी
कहाँ साधुता का यह जीवन ? बना घोर पापाचारी !

रोहिताश्व पर सर्प-दंश की माया भी मैंने डारी
बड़ा खेद है तुम दोनों को कष्ट दिया मैंने भारी !

तुमने दिखा दिया त्रिभुवन को जिसका धर्म सहायक हो
ध्वस्त न उसको कर सकता है कोई भी कम-नायक हो !

आज तपोबल सत्य-शक्ति के सम्मुख शीश झुकाता है
क्षमा कीजिए, कौशिक अपनी करणी पर पछताता है।"

निबन्ध

उद्‌बोधन

भगवान् महावीर के नौनिहालो, तुम्हारा क्या हाल-चाल है ? जरा सोचो-समझो और चालू जमाने की हलचल पर नजर फेंको। आज का प्रगति-शील ससार हमे किस प्रकार हिकारत की निगाह से देख रहा है और जैसे-तैसे हमारे सर्व-नाश के लिए तुला खड़ा है। समय रहते संभलो, अन्यथा हजारो वर्षों का चला आने वाला अधिकार छिन जाने मे कुछ भी देर नही है—'उत्तिष्ठ, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।'

हमारे पूर्वजो का क्या गौरव था, कुछ मालूम भी है ? बडे-बडे चक्रवर्ती सम्राट् तक चरणो मे शीश रगडते थे और वे कुछ लक्ष्य भी न देते थे कि क्या हो रहा है ? उनके हृदय-मन्दिर मे वैराग्य की वह अपूर्व ज्योति जगमगाया करती थी कि—मोहक से मोहक वैभव की माया का भी कुछ असर न होता था, क्षण-भर के लिए भी आसक्ति का अन्धकार दिग्मूढ नही कर पाता था। आपको अपने उन विकट वन-विहारी पूर्वज की भी याद है ? जिसने सम्राट् श्रेणिक तक को अनाथ-कगाल कहा था। क्या आप भी वक्त आने पर कुछ ऐसी ही थोडी-बहुत हिम्मत कर सकते हैं ? नही, नही। आपको तो जब-तब नगण्य सेठियो तक की भटैती करने से ही फुर्सत नही है। मध्य व्याख्यान तक मे सेठियो के गुण-गाम गाए जाते है और उन्हें फुला-फुलाकर कुप्पा बना दिया

जाता है। आज़ाद-फक्कड़ होने का मज़ा लो। तुम्हें पैसों-कौड़ियों से क्या लेना-देना है। 'फकीरी खुदा को प्यारी है अमीरी क्या बिचारी है।

यह भी क्या बीमारी कि इधर साधु का बाना लेते देर न हुई और उधर पैसे मुँह की फिक्र पड़ गई। कौन योग्य है कौन नहीं? इसका तनिक भी विचार नहीं भेड़-बकरियों की तरह बाड़ा भरते जा रहे हो। कभी हृदय पर हाथ रख कर विचारा है कि—पैसे के नाम से इन चोरों-मक्कारों की भीड़ भरने में क्या-क्या दम्भ रचाने पड़ते हैं संयम के कोयले करने पड़ते हैं। याद रखो इन भरती के रंगरूटों से न तो जैन-धर्म का मुख उज्ज्वल होगा और न तुम्हारा ही। पहले अपने-आपको तो सुधार लो चेलों का सुधार तो फिर होता रहेगा। भीड़ इकट्ठी करके क्या करोगे? जैसा बने वैसा कुछ समाज-हित का नया काम करके दिखा जाओ ताकि संसार तुम्हें हज़ारों शताब्दियों तक अपने हृदय-मन्दिर में देव बनाकर पधराए रखे। 'धर्म की पूजा है, यहाँ रेवड़ की पूछ-पूजा नहीं।

साम्प्रदायिक कलह—हा हन्त! इसने तो हमें मिट्टी में मिला दिया है। व्याख्यान मंच पर चढ़कर इधर तो विश्व-प्रेम के गीत गाते हो—'वसुधैव कुटुम्बकम्'—का सुमधुर आलाप छेड़ते हो और उधर घर में ही यह थुका-फजीती! जो कुछ उछल उछल कर कहते-सुनते हो अगर उसकी एक नन्ही-सी रेखा भी अन्तस्थल में खींच लो तो बस बेड़ा पार हो जाए। 'प्यासा हो जाने पर बिना क्षिमत-क्षिमावना किए पानी भी नहीं पीना और तो क्या—मुँह का थूक तक भी नहीं निगलना'—कहाँ तो वीर प्रभु का यह आदर्श आदेश और कहाँ अपनी वर्षों-पर-वर्षों चलने वाली तू-तू मैं-मैं,बक-बक झक-झक! अगर कोई अन्य विद्वान्

तुम्हारे ग्रन्थो को देखे और फिर तुम्हे देखे, तो क्या कहेगा ? हमे अपनी उद्दण्टता पर लज्जा आनी चाहिए। पामर श्रेणी के गृहस्थो से घटो घुट-घुटकर बातें करोगे, गजेडी-भगेडी बाबाओ तक से हाँ-हाँ, जी-जी, करके बोलोगे। परन्तु अपने ही जाति-भाई अन्य सम्प्रदायी सन्तो के मिलने पर तो बस, कुत्ते की तरह गुर्रा कर बगल से निकल भागते हो, यह कहाँ की नयी सूझ ? इस सम्बन्ध मे तुम्हारा यह रवैया बडी चोट पहुँचाने वाला है। प्रेम-माला के मनके बनकर सगठन के सूत्र मे बँध जाओ, ससार फिर तुम्हारी विजय-यात्रा का पलकें बिछा कर स्वागत करेगा। 'सहति कार्य साधिका।'

खेद है, अन्य दुर्बलताओ के साथ-साथ हमारी ज्ञान-दुर्बलता भी सीमातीत होती जा रही है। ज्ञानाभ्यास के प्रति हमारी लापरवाही, हमे पतन के गम्भीर गर्त की ओर ले जा रही है। जिसकी शुद्धि मे ही आगे की समस्त शुद्धियाँ रही हुई है—फिर उस पवित्र ज्ञान का इतना घोर निरादर! रोम-रोम काँप उठता है। वह जमाना लद गया जब कि रसीली ढालो, चौपाइयो, छन्दो, तुक्को के बल पर पण्डित बने फिरते थे और व्याख्यान मे चटपटे दृष्टान्तो द्वारा भोली जनता को हँसा-हँसा कर वाहवाही लूटते थे। आज की नवीन प्रजा, बीसवी शताब्दी के उन्नत-पथ पर है। अत वह ठोस पाण्डित्य देखने लगी है। आज के नवीन शिक्षा-अभ्यासी गृहस्थ खुल्लम-खुल्ला यह कहते देखे गए है कि—'साधुओ के पास जाकर क्या करें, वे तो हमारी जितनी भी विवेक-बुद्धि नही रखते। कोरे पोगापथी फिरते है।' कुछ समझे, आप के महान् व्यक्तित्व की किस प्रकार मिट्टी पलीद हो रही है ? एक दिन तो वह था, जब हमारे सिद्धसेन, जिनभद्र, हेमचन्द्र, हरिभद्र आदि विज्ञ पूर्वजो ने अपने अप्रतिम पाण्डित्य के बल पर ससार मे

जैन-धर्म की विजय का डंका बजाया था और आज हम उन्हीं के सपूत ज्ञानोपासना के मार्ग में इतने गए-गुजरे हो गए हैं कि हमारे ही बेटे-पोते हमारे बुद्धि-वैभव पर फब्तियाँ कसते हैं। नवीन साहित्य का निर्माण तो क्या प्राचीन साहित्य की ही कुछ सेवा नहीं हो पा रही है। बहुत-से तो ऐसे अक्षर-शत्रु मिलेंगे जो उन्हें समझेंगे तो क्या ठीक प्रकार से अक्षर भी तो नहीं पढ़ सकते हैं। तनिक अपने पूर्वजों के ज्ञान-गौरव की ओर देखो और उनके गम्भीर ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन करो जिससे आज के ज्ञानाभ्यास की दौड़ में तुम किसी से पीछे न रह सको बल्कि सब के आगे अपनी विजय वैजयन्ती लहरा सको। 'यदि ज्ञानेन जयं वविमिह दिपते।'

यह मेरा देश है और यह तुम्हारा देश है यह मेरा क्षेत्र है और तुम्हारा क्षेत्र है—भला यह 'स्व-पर' की ममतामयी कृत्रिम परिधियों से परे मुनि वर्ग में मेरे-तेरे का क्या झगड़ा? जब साधु ही ठहरे तो फिर अपना और बेगाना क्या? जब यह सम्पूर्ण संसार ही अपना है तो फिर पराए का प्रश्न ही क्यों? क्षेत्र-मोह को छोड़ो जरा विहार भूमिका को लम्बी बनाकर इधर-उधर घूमो तब तुमको पता चलेगा कि आज संसार कहाँ पहुँच चुका है और हम कहाँ पर टिके हुए हैं। नये-नये देशों व क्षेत्रों के विहार से तुम्हारा ज्ञान-कोष कितना वृद्धि-गत होगा—जरा अनुभव करके तो देखो। मैं तो यह कहूँगा कि अगर मुनि लोग परस्पर एक-दूसरे के प्रान्तों में कुछ वर्ष घूम लें तो ये साम्प्रदायिक द्वन्द्व अपने-आप नष्ट होते चले जाएँगे। जो बाड़ाबन्दी रूप कलह का दावानल धधक रहा है उसके दूर करने का एकमात्र उपाय—विहार को लम्बा कर देना ही है और कुछ नहीं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने क्षेत्रों में कीचड़ गूँथते रहो—सूकरोपमा

चरितार्थ करते रहो, इससे न तो आप सर्वतोमुखी प्रतिष्ठा ही प्राप्त कर सकते हैं,और न कुछ उद्धार ही। अधिक परिचय का अन्त-तोगत्वा यह हाल होता है, कि उग्र क्रियाकाण्ड मे से धीरे-धीरे कडक निकल जाती है। फलत शिथिलाचार का साम्राज्य फैलता चला जाता है। अस्तु, घूमो—फिर घूमो और देश-विदेश मे जैनत्व का सन्देश पहुँचा दो—'देशाटन सर्व-गुण-प्रकाशकम्।'

—अजमेर सम्मेलन पर

"मुझे कर्त्तव्य से काम है। लोग कहते हैं—आपका इतिहास स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। मेरी दृष्टि में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाए या लोहाक्षरो मे—दोनो बराबर हैं। मैं तो अपना इतिहास कर्त्तव्याक्षरो में लिखा जाना चाहता हूँ।"

"जो विचार आचार में नहीं उतरता, वह मस्तिष्क के लिए केवल दुर्वह भार के अतिरिक्त और कुछ नहीं। विचार का कुली न बन कर, विचारों का स्वामी बनना ही गौरव की बात है।'

जैन-धर्म की विजय का डंका बजाया था और आज हम उन्हीं के सपूत ज्ञानोपासना के मार्ग में इतने गए-गुजरे हो गए हैं कि हमारे ही ऐसे-चोटी हमारे बुद्धि-वैभव पर चुटकियाँ भरते हैं। नवीन साहित्य का निर्माण तो क्या प्राचीन साहित्य की ही सुरक्षा नहीं हो पा रही है। बहुत-से तो ऐसे अक्षर-शत्रु मिलेंगे जो उन्हें समझेंगे तो क्या ठीक प्रकार से अक्षर भी तो नहीं पढ़ सकते हैं। तनिक अपने पूर्वजों के ज्ञान-गौरव की ओर देखो और उनके गम्भीर ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन करो जिससे आज के ज्ञानाभ्यास की दौड़ में तुम किसी से पीछे न रह सको बल्कि सब के आगे अपनी विजय वैजयन्ती लहरा सको। 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'

यह मेरा देश है और यह तुम्हारा देश है, यह मेरा क्षेत्र है और तुम्हारा क्षेत्र है—भला यह 'स्व-पर' की ममतामयी कुटिल परिधियों से परे मुनि धर्म में मेरे-तेरे का क्या झगड़ा? जब साधु ही ठहरे, तो फिर अपना और बेगाना क्या? जब यह सम्पूर्ण संसार ही अपना है तो फिर पराए का प्रश्न ही क्यों? क्षेत्र-मोह को छोड़ो जरा विहार-भूमिका को लम्बी बनाकर इधर-उधर घूमो तब तुमको पता चलेगा कि आज संसार कहाँ पहुँच चुका है और हम कहाँ पर टिके हुए हैं। नये-नये देशों व क्षेत्रों के विहार से तुम्हारा ज्ञान-कोष कितना वृद्धि-गत होगा—जरा अनुभव करके तो देखो। मैं तो यह कहूँगा कि अगर मुनि लोग परस्पर एक-दूसरे के प्रान्तों में कुछ वर्ष घूमें तो ये साम्प्रदायिक द्वन्द्व अपने-आप नष्ट होते चले जाएँगे। जो बाड़ाबन्दी रूप कलह का दावानल धधक रहा है उसके दूर करने का एकमात्र उपाय—विहार का लम्बा कर देना ही है, और कुछ नहीं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने क्षेत्रों में कीचड़ खूँदते रहो—कूपरोपमा

चरितार्थ करते रहो, इससे न तो आप सर्वतोमुखी प्रतिष्ठा ही प्राप्त कर सकते हैं, और न कुछ उद्धार ही। अधिक परिचय का अन्ततोगत्वा यह हाल होता है, कि उग्र क्रियाकाण्ड मे से धीरे-धीरे कडक निकल जाती है। फलत शिथिलाचार का साम्राज्य फैलता चला जाता है। अस्तु, घूमो—फिर घूमो और देश-विदेश मे जैनत्व का सन्देश पहुँचा दो—'देशाटन सर्व-गुण-प्रकाशकम्।'

—अजमेर सम्मेलन पर

"मुझे कर्त्तव्य मे काम है। लोग कहते हैं—आपका इतिहास स्वर्णाक्षरों मे लिखा जाएगा। मेरी दृष्टि में स्वर्णाक्षरों मे लिखा जाए या लोहाक्षरों मे—दोनो बराबर हैं। मैं तो अपना इतिहास कर्त्तव्याक्षरो मे लिखा जाना चाहता हूँ।"

"जो विचार आचार में नहीं उतरता, वह मस्तिष्क के लिए केवल दुर्वह भार के अतिरिक्त और कुछ नहीं। विचार का कुली न बन कर, विचारों का स्वामी बनना ही गौरव की बात है।'

सत्य क्या है? 'किसी भी वस्तु का किसी भी सिद्धान्त का यथार्थ ज्ञान—वास्तविक ज्ञान!" जरा और स्पष्टीकरण करना चाहें तो कह सकते हैं—'जो बात जिस रूप में हो उसको उसी रूप में जानना और समझना सत्य है।

सत्य एक अखण्ड तत्त्व है अतएव उसके भेद नहीं हो सकते। क्या सत्य में मूलतः भेद ही नहीं है? सम्पूर्ण विश्व में किसी भी देश जाति अथवा धर्म को लें तो सर्वत्र सत्य का एक ही रूप दिखाई देता है। जो कुछ भी भेद है वह हमारी कल्पनाओं का है अथवा साधक की ऊँची-नीची भूमिकाओं का है। जैन-धर्म का स्याद्वाद इसी अमर रहस्य को लेकर सामने आया है।

आज विभिन्न देशों जातियों और धर्मों में जो संघर्ष चल रहा है, उसका मूल कारण यही है कि हम सब ने सत्य को एक रूप में नहीं समझा। हमारे विभिन्न दृष्टिकोणों ने सत्य के टुकड़े टुकड़े कर दिए हैं। और दुःख है कि हम कितने मूर्ख हैं कि जो इन टुकड़ों को ही सत्य का अखण्ड रूप समझ बैठे हैं। आज के पण्डित और विद्वान्, नहीं मालूम किस मार्ग पर क्या सोच कर चल रहे हैं? आज के धर्मगुरु और धर्मोपदेशक अपने-अपने साम्प्रदायिक खण्ड सत्यों पर बल देकर मानव जाति को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त करना चाहते हैं। और चाहते हैं—एक-दूसरे से लड़ाना-झगड़ाना। आज के हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष और प्राचीन

काल के ये जैन-बौद्ध-वैदिक सघर्ष आखिर इस मनोवृत्ति के ही तो परिणाम हैं।

जब तक पण्डित और विद्वानो के मस्तिष्क मे शुष्क तर्क की कतरनी (कैंची) चलती रहेगी, तब तक क्या तो सामाजिक, क्या राजनीतिक और क्या धार्मिक—किसी भी एकता के दर्शन नही हो सकते और हम सब मानव मिलकर भी बैठ नही सकते। अत विश्व-कल्याण की दृष्टि से बुद्धिशाली विद्वद्वर्ग का कर्तव्य है कि वह अखण्ड सत्य की घोषणा करे और विभिन्न दृष्टिकोणो मे समन्वय ढूँढ कर मानव एकता का मार्ग प्रशस्त करे।

सत्य क्षुद्र तत्त्व नहीं है, वह एक महान् एव विराट् तत्त्व है। विराट् तत्त्व के दर्शन के लिए दृष्टि भी विराट् ही होनी चाहिए। राग और द्वेष हमारी दृष्टि को क्षुद्र बनाते है, सीमित बनाते है और धुंधली बनाते हैं। एकमात्र मध्यस्थ भाव ही मानव दृष्टि के दायरे को व्यापक बनाता है—विराट् बनाता है। अतएव जिस मनुष्य मे जितना ही अधिक मध्यस्थ-भाव होगा, उसकी विचार-दृष्टि उतनी ही अधिक विराट् होगी और विस्तृत होगी। अतएव किसी भी धर्म की परम्पराओ, रीति-रिवाजो और विचारधाराओ का अध्ययन करने के लिए बैठें तो, अपनेपन का राग और पराये-पन का द्वेष सर्वथा त्याग देना चाहिए।

विशुद्ध सत्य का दर्शन करने के लिए विशुद्ध मध्यस्थ दृष्टि, यथार्थ दृष्टि ही सम्मुख रक्खें। यह मध्यस्थ दृष्टि ही हमे आगे चलकर अनेकता मे एकता और खण्डता मे अखण्डता के दर्शन कराएगी। मध्यस्थ दृष्टि का तर्क और चिन्तन, सत्य के प्रति अभिमुख होकर चलता है, जबकि राग-द्वेष मूलक पक्षपात पूर्ण दृष्टि का तर्क और चिन्तन सत्य को बलात् कर से अपनी

ओर घसीटने का दुष्प्रयत्न करता है और इसी में नये-पुराने समस्त संघर्ष जन्म लेते हैं।

मध्यस्थ दृष्टि हमें यह सिखाती है कि सत्य एक विशाल समुद्र है और जितनी भी विभिन्न साम्प्रदायिक विचारधाराएँ हैं वे सब छोटी-बड़ी सरिताएँ हैं। सरिताएँ कितनी ही टेढ़ी-मेढ़ी क्यों न हों और इधर-उधर चक्कर काटती क्यों न घूमें परन्तु अन्त में मिलना तो है—उसी महासिन्धु में। अतएव हमारा लक्ष्य इस प्रारम्भिक पार्श्व पर न होकर उस अन्तिम पार्श्व पर होना चाहिए। और जब यह लक्ष्य स्थिर हो जाएगा तब— 'मेरा सो सच्चा' —का मिथ्याभिमान नष्ट हो जाएगा। उस समय हमारा महान् आदर्श सिद्धान्त होगा 'सच्चा सो मेरा'। हजारों वर्षों से मानव-जाति में द्वन्द्व और कलह मचाने वाली धार्मिक असहिष्णुता अनुदारता और संकीर्णता को जड़ से उखाड़ फेंकने वाला यही आदर्श सिद्धान्त है।

परस्पर स्नेह और सद्भावना का मंगलमय सुरभित वातावरण केवल इसी सिद्धान्त पर कायम हो सकता है। मध्यस्थ दृष्टि के द्वारा सत्य की सच्ची उपासना करने वाला साधक किसी भी धर्म या सिद्धान्त का खण्डन नहीं करता प्रत्युत विभिन्न दृष्टिकोणों और विचारों का समन्वय एवं एकीकरण करता है।

जैन-धर्म के सुप्रसिद्ध आचार-शास्त्र 'प्रश्न-व्याकरण' में भगवान् महावीर का एक अमर वाक्य आता है— तं सच्चं खु भगवं। इसका हिन्दी अर्थ है— 'सत्य ही भगवान् है। सत्य को इतना ऊँचा पद दिए बिना सत्य की सच्ची आराधना हो भी नहीं सकती। व्यक्ति को छोड़कर, आध्यात्मिक भावना-मूलक सद्गुण 'सत्य' को भगवान् बताने का यह सत्प्रयत्न मानव-जगत् की युग-युग

से उलझी हुई समस्याओ को 'सुलझाने वाला है। मनुष्य अलग-अलग व्यक्तियो को महत्ता देने के मोह मे फँसकर भ्रष्ट हो सकता है, परन्तु यदि वह भगवान्-रूप सत्य को महत्ता दे, तो साम्प्रदायिक दुराग्रह और दल-बन्दियो से मुक्त होकर विश्व-कल्याण का मार्ग अपना सकता है। आज के विराट् युग-पुरुष महात्मा गाधी भी जन-कल्याण की भावना के पक्ष मे यही आदर्श उपस्थित करते है—"सत्य है, सो भगवान् है और भगवान् है, सो सत्य है।"

मानव-जाति मे जितने भी अत्याचार, दम्भ, छल-कपट, द्वेष, घृणा, वैर-विरोध और सघर्ष है, वे सब मन, वाणी और शरीर की एकता न होने के कारण है। जब मनुष्य मन, वाणी और कर्म के तीन टुकडो मे अलग-अलग बँट जाता है, तब वह मनुष्य न होकर राक्षस हो जाता है। मन मे कुछ सोचना, वाणी मे कुछ बोलना और कर्म से कुछ करना—कितना भीषण तमस का साम्राज्य है! कही पर भी स्पष्टता की किरण का प्रकाश नही। भगवान् सत्य इसी अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने के लिए और राक्षस को मनुष्य बनाने के लिए अवतरित हुए है। मन, वाणी और कर्म, तीनो मे एकता साधना—सत्य का काम है। इसी बात को लक्ष्य मे रख कर भारतीय दार्शनिको ने सत्य का त्रिमूर्ति के रूप मे उल्लेख किया है। वस्तु का यथार्थ ज्ञान ही सत्य है। उस को विचार मे लाना ही मन का सत्य है। वाणी से कहना वाणी का सत्य है, और शरीर से काम मे लाना शरीर का सत्य है। मन, वाणी और शरीर मे पूर्ण एकता के साथ उतरा हुआ मानव-कर्त्तव्य ही सत्य है, और जहाँ यह सत्य होगा, वहाँ द्वन्द्व और सघर्ष कैसे रह सकते है? द्वन्द्व और सघर्ष को तो छिपे रहने के लिए अलग-अलग अँधेरी कोठरियाँ चाहिएँ न? भगवान् सत्य के अनन्त प्रकाश के समक्ष आने की इनमे हिम्मत कहाँ है?

आज का युग मानव-जाति के लिए सर्वनाश का युग हो रहा है। मिथ्या आहार-विहार और मिथ्या आचरण ने मानवता को चकनाचूर कर दिया है। क्या राष्ट्र, क्या धर्म क्या जाति और क्या परिवार—सब-के-सब पारस्परिक अविश्वास के शिकार हो रहे हैं और तो क्या एक रक्त की सर्वथा निकटस्थ सन्तान—भाई-भाई भी एक-दूसरे के पिपासु बन गए हैं। इन भयंकर धधकती ज्वालाओं का शमन सत्य की सच्ची उपासना के बिना नहीं हो सकता। उपनिषद् काल के एक महर्षि का अमर स्वर आज भी हमारे कानों में गूंज रहा है—

असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्माऽमृतं गमय।

क्या ही अच्छा हो यदि आज भी हम इस मंगलमय स्वर का संधान कर सकें। जब तक हम असत्य से सत्य में नहीं आ सकते तब तक अन्धकार से प्रकाश में नहीं आ सकते और जब तक अन्धकार से प्रकाश में नहीं आते हैं, तब तक हम मृत्यु पर विजय प्राप्त करके अमर नहीं बन सकते।

निष्कर्ष में यही कहना पड़ेगा कि एक मात्र भगवान् सत्य ही प्रकाश का मार्ग है अमरता का मार्ग है।

"कर्म-घोष" से गीता जयन्ती पर

●●

सामायिक में विचारना चाहिए कि— मेरा वास्तविक हित एवं कल्याण आत्मिक सुख-शान्ति के पाने एवं अन्तरात्मा को विशुद्ध बनाने में ही है। इन्द्रियों के भोगों से मेरी मनस्तुष्टि कदापि नहीं हो सकती।

सामायिक के पथ पर अग्रसर होने वाले साधक को सुख की सामग्री मिलने पर हर्षोन्मत्त नहीं होना चाहिए और दुःख की सामग्री मिलने पर व्याकुल भी नहीं होना चाहिए। सामायिक का सच्चा साधक सुख-दुःख दोनों को समभाव से भोगता है दोनों को धूप तथा छाया के समान क्षण-भंगुर मानता है।

सामायिक की साधना हृदय को विशाल बनाने के लिए है। अतएव जब तक साधक का हृदय विश्व-प्रेम से परिप्लावित नहीं हो जाता तब तक साधना का सुन्दर रंग निखर ही नहीं पाता। हमारे प्राचीन आचार्यों ने सामायिक के समभाव की परिपुष्टि के लिए चार भावनाओं का वर्णन किया है—मैत्री प्रमोद करुणा और मध्यस्थ भावना।

> सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं
> क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
> माध्यस्थ-भावं विपरीत-वृत्तौ
> सदा ममात्मा विदधातु देव।

१ मैत्री-भावना—संसार के समस्त प्राणियों के प्रति निःस्वार्थ प्रेम भाव रखना अपनी आत्मा के समान ही सब को सुख-दुःख की अनुभूति करने वाले समझना—मैत्री भावना है। जिस प्रकार मनुष्य अपने किसी विशिष्ट मित्र की हमेशा भलाई चाहता है और जहाँ तक अपने से हो सकता है समय पर भलाई करता है दूसरों से उसके लिए भलाई करवाने की इच्छा रखता

है, उसी प्रकार जिस साधक का हृदय मैत्री भावना से परिपूरित हो जाता है, वह भी प्राणीमात्र की भलाई करने के लिए बहुत उत्सुक रहता है, सबको अपनेपन की वृद्धि से देखता है। वह किसी को भी किसी भी तरह का कष्ट नही देना चाहता। उसकी आदर्श भावना यही रहती है—

"मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि पश्यामहे।"

मैं सब जीवो को मित्र की आँखो से देखता हूँ, मेरा किसी से भी वैर-विरोध नही है, प्रत्युत सब के प्रति प्रेम है।

२ **प्रमोद-भावना**—गुणवानो को, सज्जनो को, धर्मात्माओ को देखकर प्रेम से गद्गद् हो जाना, मन मे प्रसन्न हो जाना—प्रमोद भावना है। कई बार ऐसा होता है कि मनुष्य अपने से धन, सम्पत्ति, सुख, वैभव, विद्या, बुद्धि अथवा धार्मिक भावना आदि मे अधिक बढे हुए उन्नति-शील साथी को देखकर ईर्ष्या करने लगता है। यह मनोवृत्ति बडी ही दूषित है। जब तक इस मनोवृत्ति का नाश नही हो जाता, तब तक अहिंसा, सत्य आदि कोई भी सद्गुण अन्तरात्मा मे टिक नही सकता। इसीलिए भगवान् महावीर ने ईर्ष्या के विरुद्ध प्रमोद भावना का मोर्चा लगाया है।

इस भावना का यह अर्थ नही कि आप दूसरो को उन्नत देखकर किसी प्रकार का आदर्श ही न ग्रहण करें, उन्नति के लिए प्रयत्न ही न करें और सदा दीन-हीन ही बने रहें। दूसरो के अभ्युदय को देखकर यदि अपने को भी वैसा ही अभ्युदय इष्ट हो, तो उसके लिए न्याय, नीति के साथ प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए, उनको आदर्श बनाकर दृढता के साथ कर्म-पथ पर अग्रसर होना चाहिए। शास्त्रकार तो यहाँ दुर्बल मनुष्यो के हृदय मे दूसरो के

आज का युग मानव-जाति के लिए सर्वनाश का युग हो रहा है। मिथ्या आहार-विहार और मिथ्या आचरण ने मानवता को चकनाचूर कर दिया है। क्या राष्ट्र, क्या धर्म क्या जाति और क्या परिवार—सब-के-सब पारस्परिक अविश्वास के शिकार हो रहे हैं और तो क्या एक रक्त की सर्वथा निकटस्थ सन्तान—भाई भाई भी एक-दूसरे के पिपासु बन गए हैं। इन भयंकर धधकती ज्वालाओं का शमन सत्य की सच्ची उपासना के बिना नहीं हो सकता। उपनिषद् काल के एक महर्षि का अमर स्वर आज भी हमारे कानों में गूँज रहा है—

असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्माऽमृतं गमय।"

क्या ही अच्छा हो यदि आज भी हम इस मंगलमय स्वर का संधान कर सकें। जब तक हम असत्य से सत्य में नहीं आ सकते तब तक अन्धकार से प्रकाश में नहीं आ सकते और जब तक अन्धकार से प्रकाश में नहीं आते हैं तब तक हम मृत्यु पर विजय प्राप्त करके अमर नहीं बन सकते।

निष्कर्ष में यही कहना पड़ेगा कि एक मात्र भगवान् सत्य ही प्रकाश का मार्ग है, अमरता का मार्ग है।

"धर्म-घोष" में गीता जयन्ती पर

शुभ-भावना

मानव-जीवन मे भावना का वडा भारी महत्व है। मनुष्य अपनी भावनाओ से ही वनता विगडता है। हजारो लोग दुर्भावनाओ के कारण मनुष्य के शरीर को पाकर राक्षस वन जाते हैं, और हजारो पवित्र विचारो के कारण देवो से भी ऊँची भूमिका को प्राप्त कर लेते है और देवो के भी पूज्य वन जाते हैं। मनुष्य श्रद्धा का, विश्वास का, भावना का वना हुआ है। जो जैसा सोचता है, विचारता है, भावना करता है, वह वैसा ही वन जाता है—

> "श्रद्धामयोऽय पुरुष, यो यच्छ्रद्ध स एव स।
> यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी ॥"

सामायिक एक पवित्र व्रत है। दिन-रात का चक्र यों ही सकल्प-विकल्पो मे, इधर-उधर की उधेड-वुन मे निकल जाता है। मनुष्य को सामायिक करते समय दो घडी ही शान्ति के लिए मिलती हैं। यदि इन दो घडियो मे भी मन को शान्ति न दे सका, पवित्र न वना सका, तो फिर वह कव पवित्रता की उपासना करेगा? अतएव प्रत्येक जैनाचार्य सामायिक मे शुभ भावना आने के लिए आज्ञा प्रदान कर गए हैं। पवित्र सकल्पो का वल अन्तरात्मा को महान् आध्यात्मिक शक्ति एव विशुद्धि प्रदान करता है। आत्मा मे परमात्मा के, नर मे नारायण के पद पर पहुँचने का, यह विशुद्ध विचार ही स्वर्ण सोपान है।

सामायिक में विचारना चाहिए कि— 'मेरा वास्तविक हित एवं कल्याण आत्मिक सुख-शान्ति के पाने एवं अन्तरात्मा को विशुद्ध बनाने मे ही है। इन्द्रियो के भोगों से मेरी मनस्तृप्ति कदापि नही हो सकती ”

सामायिक के पथ पर अग्रसर होने वाले साधक को सुख की सामग्री मिलने पर हर्षोन्मत्त नहीं होना चाहिए और दुःख की सामग्री मिलने पर व्याकुल भी नही होना चाहिए। सामायिक का सच्चा साधक सुख-दुःख दोनों को समभाव से भोगता है दोनों को धूप तथा छाया के समान क्षण-भंगुर मानता है।

सामायिक की साधना हृदय को विशाल बनाने के लिए है। अतएव जब तक साधक का हृदय विश्व-प्रेम से परिप्लावित नहीं हो जाता तब तक साधना का सुन्दर रंग निखर ही नही पाता। हमारे प्राचीन आचार्यों ने सामायिक के समभाव की परिपुष्टि के लिए चार भावनाओं का वर्णन किया है—मैत्री प्रमोद करुणा और मध्यस्थ भावना।

> 'सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
> क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
> माध्यस्थ-भावं विपरीत-वृत्तौ
> सदा ममात्मा विदधातु देव।

१ मैत्री-भावना—संसार के समस्त प्राणियों के प्रति निःस्वार्थ प्रेम-भाव रखना अपनी आत्मा के समान ही सब को सुख-दुःख की अनुभूति करने वाली समझना—मैत्री भावना है। जिस प्रकार मनुष्य अपने किसी विशिष्ट मित्र की हमेशा भलाई चाहता है और जहाँ तक अपने से हो सकता है समय पर भलाई करता है दूसरों से उसके लिए भलाई करवाने की इच्छा रखता

है, उसी प्रकार जिस साधक का हृदय मैत्री भावना से परिपूरित हो जाता है, वह भी प्राणीमात्र की भलाई करने के लिए बहुत उत्सुक रहता है, सबको अपनेपन की बुद्धि से देखता है। वह किसी को भी किसी भी तरह का कष्ट नही देना चाहता। उसकी आदर्श भावना यही रहती है—

"मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि पश्यामहे।"

मैं सब जीवो को मित्र की आँखो से देखता हूँ, मेरा किसी से भी वैर-विरोध नही है, प्रत्युत सब के प्रति प्रेम है।

२ **प्रमोद-भावना**—गुणवानो को, सज्जनो को, धर्मात्माओ को देखकर प्रेम से गद्गद् हो जाना, मन मे प्रसन्न हो जाना—प्रमोद भावना है। कई बार ऐसा होता है कि मनुष्य अपने से धन, सम्पत्ति, सुख, वैभव, विद्या, बुद्धि अथवा धार्मिक भावना आदि मे अधिक बढे हुए उन्नति-शील साथी को देखकर ईर्ष्या करने लगता है। यह मनोवृत्ति बडी ही दूषित है। जब तक इस मनोवृत्ति का नाश नही हो जाता, तब तक अहिंसा, सत्य आदि कोई भी सद्गुण अन्तरात्मा मे टिक नही सकता। इसीलिए भगवान् महावीर ने ईर्ष्या के विरुद्ध प्रमोद भावना का मोर्चा लगाया है।

इस भावना का यह अर्थ नही कि आप दूसरो को उन्नत देखकर किसी प्रकार का आदर्श ही न ग्रहण करे, उन्नति के लिए प्रयत्न ही न करें और सदा दीन-हीन ही बने रहें। दूसरो के अभ्युदय को देखकर यदि अपने को भी वैसा ही अभ्युदय इष्ट हो, तो उसके लिए न्याय, नीति के साथ प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए, उनको आदर्श बनाकर दृढता के साथ कर्म-पथ पर अग्रसर होना चाहिए। शास्त्रकार तो यहाँ दुर्बल मनुष्यो के हृदय मे दूसरो के

अभ्युदय को देखकर जो डाह होता है केवल उसे दूर करने का आदेश देते हैं।

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सदैव दूसरों के गुणों की ओर ही अपनी दृष्टि रखे दोषों की ओर नहीं। गुणों की ओर दृष्टि रखने से अन्तःकरण पर दोष-ही-दोष छा जाते हैं। मनुष्य जैसा चिन्तन करता है, वैसा ही बन जाता है। अतः प्रमोद भावना के द्वारा प्राचीन काल के महापुरुषों के उज्ज्वल एवं पवित्र गुणों का चिन्तन हमेशा करते रहना चाहिए। गज सुकुमार मुनि की क्षमा धर्मरुचि मुनि की दया भगवान् महावीर का वैराग्य आदि मात्र का नाम किसी भी साधक को विशाल आत्मिक-शक्ति प्रदान करने के लिए पर्याप्त है।

३. करुणा भावना—किसी दीन-दुःखी को पीड़ा पाते हुए देखकर दया से गद्गद् हो जाना उसे सुख-शान्ति पहुँचाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना अपने प्रिय-से-प्रिय स्वार्थ का बलिदान देकर भी उसका दुःख दूर करना—करुणा भावना है। अहिंसा की पुष्टि के लिए करुणा भावना अतीव आवश्यक है। बिना करुणा के अहिंसा का अस्तित्व कथमपि नहीं हो सकता। यदि कोई बिना करुणा के अहिंसक होने का दावा करता है तो समझ लो वह अहिंसा का उपहास करता है। करुणा-हीन मनुष्य मनुष्य नहीं पशु होता है। दुःखी को देखकर जिसका हृदय नहीं पिघला जिसकी आँखों से आँसुओं की धारा नहीं बही वह किस भरोसे पर अपने को धर्मात्मा समझ सकता है।

४ माध्यस्थ-भावना—जो अपने से मतद्भेद रखते हों विरुद्ध हो उन पर भी द्वेष न रखना बल्कि उदासीन अर्थात् तटस्थ भाव रखना—माध्यस्थ भावना है। कभी-कभी ऐसा होता है कि साधक को बिल्कुल ही संस्कार-हीन एवं धर्म-शिक्षा ग्रहण करने के

सर्वथा अयोग्य, क्षुद्र, क्रूर, निन्दक, विश्वास घाती,निर्दय, व्यभिचारी तथा वक्र स्वाभाव वाले मनुष्य मिल जाते हैं और पहले-पहल साधक बड़े उत्साह-भरे हृदय से उनको सुधारने का, धर्म-पथ पर लाने का प्रयत्न करता है, परन्तु जब उनके सुधारने के सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं, तो मनुष्य सहसा उद्विग्न हो उठता है, क्रुद्ध हो जाता है, विपरीताचरण वालो को अपशब्द तक कहने लगता है। भगवान् महावीर मनुष्य की इसी दुर्बलता को ध्यान मे रखकर मध्यस्थ-भावना का उपदेश करते हैं कि—"ससार भर को सुधारने का केवल अकेले तुमने ही ठेका नही ले रखा है। प्रत्येक प्राणी अपने-अपने सस्कारो के चक्र मे है। जब तक भव-स्थिति का परिपाक नही होता है, अशुभ सस्कार क्षीण होकर शुभ सस्कार जागृत नही होते हैं, तब तक कोई सुधर नही सकता। तुम्हारा काम तो बस प्रयत्न करना है। सुधरना और न सुधरना, यह तो उसकी स्थिति पर है। प्रयत्न जारी रखो, कभी तो अच्छा परिणाम आएगा ही।"

विरोधी और दुश्चरित्र व्यक्ति को देखकर घृणा भी नही करनी चाहिए। ऐसी स्थिति मे मध्यस्थ-भावना के द्वारा समभाव रखना, तटस्थ हो जाना ही श्रेयस्कर है। प्रभु महावीर को सगम आदि देवो ने कितने भयकर कष्ट दिए, कितनी मर्मान्तिक पीडा पहुँचायी, किन्तु फिर भी भगवान् की मध्यस्थ-वृत्ति पूर्ण रूप से अचल रही। उनके हृदय मे विरोधियो के प्रति जरा भी क्षोभ एव क्रोध नही हुआ। वर्तमान युग के सघर्षमय वातावरण मे मध्यस्थ-भावना की बडी भारी आवश्यकता है।

●●

जैन-धर्म की साधना इच्छा-योग की साधना है—सहज योग की साधना है। जिस साधना में बलप्रयोग हो, वह साधना निर्जीव बन जाती है। साधना के महापथ पर अग्रसर होने वाला साधक अपनी शक्ति के अनुरूप ही प्रगति कर सकता है। साधना की जाती है, लादी नहीं जा सकती।

संसार में जैन-धर्म अहिंसा का, शान्ति का, प्रेम का और मैत्री का अमर सन्देश लेकर आया है। उसका विश्वास प्रेम में है, तलवार में नहीं। उसका धर्म आध्यात्मिकता में है, भौतिकता में नहीं। साधना का मौलिक आधार यहाँ भावना है, श्रद्धा है। आग्रह और बलात्कार को यहाँ प्रवेश नहीं। जब साधक जाग उठे, तभी है उसका सवेरा समझा जाता है। सूर्य-रश्मियों के संस्पर्श से कमल खिल उठते हैं। शिष्य के प्रसुप्त मानस को गुरु जागृत करता है, चलना उसका अपना काम है।

आगम वाङ्मय का गंभीरता से परिशीलन करने वाले मनीषी इस तथ्य को भली-भाँति जानते हैं कि परम प्रभु महावीर प्रत्येक साधक को एक ही मूलमन्त्र देते हैं कि—"अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह।" हे देव-वल्लभ मनुष्य! जिसमें तुझे सुख हो, जिसमें तुझे शान्ति हो, उसी साधना में तू रम जा। परन्तु एक शर्त जरूर है—"जिस कल्याण-पथ पर चलने

का तू निश्चय कर चुका है, उस पर चलने मे विलम्ब मत कर, प्रमाद न कर !"

इसका तात्पर्य इतना ही है, कि जैन-धर्म की साधना के मूल मे किसी प्रकार का वलप्रयोग नही है, बलात्कार से यहाँ भावना नही कराई जाती है। साधक अपने आप मे स्वतन्त्र है। उस पर किसी प्रकार का आग्रह और दबाव नही है। भय और प्रलोभन को भी यहाँ अवकाश नही है। सहज-भाव से जो हो सके, वही सच्ची साधना है। आत्म-कल्याण की भावना लेकर आने वाले साधको मे वे भी थे जो अपने जीवन की सन्ध्या मे लडखडाते चल रहे थे, वे भी थे जो अपने जीवन के वसन्त मे अठखेली कर चल रहे थे, और वे भी थे जो अपने गुलाबी जीवन मे अभी प्रवेश ही कर पाए थे। किन्तु भगवान् ने सब को इच्छा-योग की ही देशना दी—"जहा सुह देवाणुप्पिया ।" जितना चल सकते हो—चलो, बढ सकते हो, बढो।

अतिमुक्तकुमार आया, तो कहा—आ तू भी चल ! मेघकुमार आया, तो कहा—आ और चला चल ! इन्द्रभूति आया और हरिकेशी आया—सब को बढे चलो की अमृतमयी प्रेरणा दी। चन्दन बाला आई, तो उसका भी स्वागत। राह सब की एक है, परन्तु गति मे सब के अन्तर है। कोई तीव्र गति मे चला, कोई मन्द गति से। गति सब मे हो। मन्दता और तीव्रता शक्ति पर आधारित है, यही इच्छा-योग है, यही इच्छा-धर्म है, यही सहज-योग की साधना है।

गाथापति आनन्द आया। कहा—"भंते ! श्रमण बन सकने की क्षमता मुझ मे नही है।" महाप्रभु ने अमृतमयी वाणी मे कहा—"जहा सुह ।" श्रमण न सही श्रावक ही बनो ! सम्राट् श्रेणिक आया। कहा—"भंते ! मैं श्रावक भी नहीं बन सकता।"

यहाँ पर भी वही इच्छा-योग आया—"जहा सुहं......।" आवक नहीं बन सकते तो सम्यग्दृष्टि ही बनो ! जितनी शक्ति है, उतना ही बनो ! महामेघ बरसता है और जितना पात्र होता है, वैसा और उतना ही जल प्राप्त हो जाता है।

जैन-धर्म एक विशाल और विराट् धर्म है। यह मनुष्य की आत्मा को साथ लेकर चलता है। यह किसी पर बलात्कार नहीं करता। साधना में मुख्य तत्त्व सहज भाव और अन्तःकरण की स्फूर्ति है। अपनी इच्छा से और स्वतः स्फूर्ति से जो धर्म किया जाता है, वस्तुतः वही सच्चा धर्म है शेष धर्माभास मात्र होता है।

जैन-धर्म में किसी भी साधक से यह नहीं पूछा जाता है कि—तू ने कितना किया है? वहाँ तो यही पूछा जाता है कि—तू ने कैसे किया है? सामायिक पौषध या नवकारसी करते समय तू शुभ संकल्पों में शुद्ध भावों के प्रवाह में बहता रहा है या नहीं? यदि तेरे अन्तर में शान्ति नहीं रही तो वह क्रिया केवल क्लेश उत्पन्न करेगी—उससे धर्म नहीं होगा। क्योंकि—"यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव-शून्याः।"

जैन-धर्म की साधना का दूसरा पहलू यह है कि मनुष्य अपनी शक्ति का गोपन कभी न करे। जितनी शक्ति है उसको छुपाने की चेष्टा मत करो। शक्ति का दुरुपयोग करना यदि पाप है तो उसका उपयोग न करना भी पापों का पाप है—महापाप है। अपनी शक्ति के अनुरूप जप तप और त्याग—जितना कर सकते हो अवश्य ही करो। एक आचार्य के शब्दों में हमें यह कहना ही होगा—

'जं सक्कइ तं कीरइ जं च न सक्कइ तस्स सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो, पावइ अजरामरं ठाणं।"

"जिस सत्कर्म को तुम कर सकते हो, उसे अवश्य करो। जिसको करने की शक्ति न हो, उस पर श्रद्धा रखो, करने की भावना रखो। अपनी शक्ति के तोल के मोल को कभी न भूलो!"

आचारांग मे साधकों को लक्ष्य करके कहा गया है—"जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिया।" साधकों! तुम साधना के जिस महामार्ग पर आ पहुँचे हो, अपनी इच्छा से—उसका वफादारी के साथ पालन करो। श्रावक हो, तो श्रावक-धर्म का और श्रमण हो, तो श्रमण-धर्म का श्रद्धा और निष्ठा के साथ पालन करो। साधना के पथ पर शून्य मन से कभी मत चलो। सदा मन को तेजस्वी रखो। स्फूर्ति और उत्साह रखो। कितना चले हो, इसकी ओर ध्यान मत दो। देखना यह है कि कैसा चले हो? चित्त मुनि ने चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त को कहा था—"राजन्, तुम श्रमणत्व धारण नही कर सकते, कोई चिन्ता की बात नही। तुम श्रावक भी नही बन सकते, न सही। परन्तु, इतना तो करो कि अनार्य कर्म मत करो। करना हो, तो आर्य कर्म हो करो!"

इससे बढ़कर इच्छा-योग और क्या होगा? इससे अधिक सरल और सहज साधना और क्या होगी? जैन-धर्म का यह इच्छा-योग मानव समाज के कल्याण के लिए सदा द्वार खोले खड़ा है। इसमे प्रवेश करने के लिए धन, वैभव और प्रभुत्व की आवश्यकता नही है। देश, जाति और कुल का बन्धन भी नही है। आवश्यकता है, केवल अपने सोए हुए मन को जगाने की, और अपनी शक्ति को तोल लेने की।

आज के अशान्त मानव को जब कभी शान्ति और सुख की जरूरत होगी, तो उसे इस सहज धर्म—इच्छा-योग की साधना करनी ही होगी। —रत्नमुनि-स्मृति ग्रन्थ

●●

जैन-संस्कृति में अहिंसा

जैन-संस्कृति की संसार को जो सब से बड़ी देन है वह अहिंसा है। अहिंसा का यह महान् विचार, जो आज विश्व की शान्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियाँ कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं, एक दिन जैन-संस्कृति के महान् उन्नायकों द्वारा ही हिंसा-कांड में लगे हुए उन्मत्त संसार के सामने रखा गया था।

जैन-संस्कृति का महान् सन्देश है कि कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रहकर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज में घुल-मिलकर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और दूसरे आस-पास के संगी-साथियों को भी उठाने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए, विराट् बनाए और जिन लोगों से नित्य का काम पड़ता है या जिनको देता है उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती समाज में अपनेपन का भाव पैदा न करेगा अर्थात् जब तक दूसरे लोग उसको अपना आदमी न समझेंगे और वह भी दूसरों को अपना आदमी न समझेगा तब तक समाज का कल्याण नहीं

हो सकता। एक वार ही नही, हजार वार कहा जा सकता है, कि नही हो सकता। एक-दूसरे का आपस मे अविश्वास ही तवाही का कारण वना हुआ है।

ससार मे जो चारो ओर दु ख का हा-हाकार है, वह प्रकृति की ओर से मिलने वाला तो मामूली मा ही है। यदि अधिक अन्तर्निरीक्षण किया जाए, तो प्रकृति दु ख की अपेक्षा हमारे सुख मे ही अधिक सहायक है। वास्तव मे जो कुछ भी ऊपर का दु ख है, वह मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा ही लादा हुआ है। यदि हर एक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरो पर किए जाने वाले दु खो को हटा ले, तो यह ससार आज ही नरक से स्वर्ग मे वदल सकता है।

जेन-संस्कृति के महान् सस्कारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रो मे परस्पर होने वाले युद्धो का हल भी अहिंसा के द्वारा ही वतलाया है। उसका आदर्श है कि धर्म-प्रचार के द्वारा ही विश्व भर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे यह जँचादो कि वह 'स्व' मे ही सन्तुष्ट रहे, 'पर' की ओर आकृष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। पर की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है, दूसरो के सुख-साधनो को देखकर लालायित हो जाना और उन्हें छीनने का दुःसाहस करना।

हाँ, तो जव तक नदी अपने पाट मे प्रवाहित होती रहती है, तव तक उसमे ससार को लाभ ही लाभ है, हानि कुछ भी नही। ज्यो ही वह अपनी सीमा से हटकर आस-पास के प्रदेश पर अधिकार जमाती है, वाढ का रूप धारणा करती है, तो ससार मे हा-हाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य खडा हो जाता है। यही दशा मनुष्यो की है। जव तक सव के सव मनुष्य अपने-अपने 'स्व' मे ही प्रवाहित रहते हैं, तव तक कुछ अशान्ति नहीं

है लड़ाई झगड़ा नहीं है। अशान्ति और संघर्ष का वातावरण वहीं पैदा होता है जहाँ कि मनुष्य 'स्व' से बाहर फैलना शुरू करता है दूसरो के अधिकारों को कुचलता है और दूसरों के जीवनोपयोगी साधनो पर कब्जा जमाने लगता है।

प्राचीन जैन-साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भगवान् महावीर ने इस दिशा में बड़े स्तुत्य प्रयत्न किए हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पाँचवें अपरिग्रह व्रत की मर्यादा में सर्वदा 'स्व' मे ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार, उद्योग आदि क्षेत्रों मे उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने न्याय-प्राप्त अधिकारों से कभी भी आगे नहीं बढ़ने दिया। प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष मे उतरना।

जैन-संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही उचित साधनों का सहारा लेकर उचित प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का संग्रह कर रखना जैन-संस्कृति में चोरी है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र क्यों लड़ते हैं? इसी अनुचित संग्रह वृत्ति के कारण। दूसरों के जीवन की जीवन के सुख-साधनों की उपेक्षा करके मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह-वृत्ति में ही ढूंढे जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें तो अहिंसा और अपरिग्रह वृत्ति—दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

आत्म-रक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन जुटाना जैन धर्म से विरुद्ध नहीं है। परन्तु आवश्यकता से अधिक संगृहीत एवं संगठित शक्ति, अवश्य ही संहार लीला का अभिनय करेगी अहिंसा को मरणोन्मुखी बनाएगी। अतएव आप आश्चर्य न करें

कि पिछले कुछ वर्षों मे जो शस्त्र-सन्यास का आन्दोलन चल रहा था, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध सामग्री रखने को कहा जा रहा था, वह जैन तीर्थंकरो ने हजारो वर्ष पहले चलाया था। आज जो काम कानून द्वारा, पारम्परिक विधान के द्वारा लिया जाता है, उन दिनो वह उपदेशो द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बडे-बडे राजाओ को जैन-धर्म मे दीक्षित किया था और उन्हें नियम दिया गया था कि वे राष्ट्र-रक्षा के काम मे आने वाले शस्त्रो से अधिक सग्रह न करें। साधनो का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है। प्रभुता की लालसा मे आकर वह कही-कही किसी पर चढ दौडेगा और मानव-ससार मे युद्ध की आग भडका देगा। इस दृष्टि से जैन तीर्थंकर हिंसा के मूल कारणो को उखाडने का प्रयत्न करते रहे है।

जैन तीर्थंकरो ने कभी भी युद्धो का समर्थन नही किया। जहाँ अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओ के हाथो की कठपुतली बनकर युद्ध के समर्थन मे लगते आए है, युद्ध मे मरने वालो को स्वर्ग का लालच दिखाते आए है, राजा को परमेश्वर का अंश बताकर उसके लिए सब कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आए हैं, वहाँ जैन तीर्थंकर इस सम्बन्ध मे काफी कट्टर रहे हैं। 'प्रश्न व्याकरण' और 'भगवती सूत्र' युद्ध के विरोध मे क्या कुछ कहते है। यदि थोडा-सा कष्ट उठाकर देखने का प्रयत्न करेंगे तो बहुत कुछ युद्ध-विरोधी विचार-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। आप जानते है, मगधाधिपति अजातशत्रु कुणिक भगवान् महावीर का कितना अधिक उत्कृष्ट भक्त था। 'औपपातिक सूत्र' मे उसकी भक्ति का चित्र चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। प्रतिदिन भगवान् के कुशल समाचार जानकर फिर अन्न-जल ग्रहण करना, कितना उग्र नियम है। परन्तु वैशाली पर कुणिक द्वारा होने

है लड़ाई झगड़ा नहीं है। अशान्ति और संघर्ष का वातावरण वहीं पैदा होता है जहाँ कि मनुष्य 'स्व' से बाहर फैलना शुरू करता है दूसरों के अधिकारों को कुचलता है और दूसरों के जीवनोपयोगी साधनों पर कब्जा जमाने लगता है।

प्राचीन जैन-साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भगवान् महावीर ने इस दिशा में बड़े स्तुत्य प्रयत्न किए हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पाँचवें अपरिग्रह व्रत की मर्यादा में सर्वदा 'स्व' में ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार, उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने न्याय-प्राप्त अधिकारों से कभी भी आगे नहीं बढ़ने दिया। प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष में उतरना।

जैन-संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही उचित साधनों का सहारा लेकर उचित प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का संग्रह कर रखना जैन-संस्कृति में चोरी है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र क्यों लड़ते हैं? इसी अनुचित संग्रह वृत्ति के कारण। दूसरों के जीवन की जीवन के सुख-साधनों की उपेक्षा करके मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह-वृत्ति में ही ढूँढे जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें तो अहिंसा और अपरिग्रह वृत्ति—दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

आत्म-रक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन जुटाना जैन धर्म से विरुद्ध नहीं है। परन्तु आवश्यकता से अधिक संगृहीत एवं संगठित शक्ति, अवश्य ही संहार लीला का अभिनय करेगी अहिंसा को मरणोन्मुखी बनाएगी। अतएव आप आश्चर्य न करें

कि पिछले कुछ वर्षों मे जो शस्त्र-सन्यास का आन्दोलन चल रहा था, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध सामग्री रखने को कहा जा रहा था, वह जैन तीर्थंकरो ने हजारो वर्ष पहले चलाया था। आज जो काम कानून द्वारा, पारस्परिक विधान के द्वारा लिया जाता है, उन दिनो वह उपदेशो द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बडे-बडे राजाओ को जैन-धर्म मे दीक्षित किया था और उन्हें नियम दिया गया था कि वे राष्ट्र-रक्षा के काम मे आने वाले शस्त्रो से अधिक सग्रह न करें। साधनो का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है। प्रभुता की लालसा मे आकर वह कही-कही किसी पर चढ दौडेगा और मानव-ससार मे युद्ध की आग भडका देगा। इस दृष्टि से जैन तीर्थंकर हिसा के मूल कारणो को उखाडने का प्रयत्न करते रहे हैं।

जैन तीर्थंकरो ने कभी भी युद्धो का समर्थन नही किया। जहाँ अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओ के हाथो की कठपुतली बनकर युद्ध के समर्थन मे लगते आए है, युद्ध मे मरने वालो को स्वर्ग का लालच दिखाते आए हैं, राजा को परमेश्वर का अश बताकर उसके लिए सब कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आए हैं, वहाँ जैन तीर्थंकर इस सम्बन्ध मे काफी कट्टर रहे हैं। 'प्रश्न व्याकरण' और 'भगवती सूत्र' युद्ध के विरोध मे क्या कुछ कहते है। यदि थोडा-सा कष्ट उठाकर देखने का प्रयत्न करेंगे तो बहुत कुछ युद्ध-विरोधी विचार-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। आप जानते हैं, मगधाधिपति अजातशत्रु कुणिक भगवान् महावीर का कितना अधिक उत्कृष्ट भक्त था। 'औपपातिक सूत्र' मे उसकी भक्ति का चित्र चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। प्रतिदिन भगवान् के कुशल समाचार जानकर फिर अन्न-जल ग्रहण करना, कितना उग्र नियम है। परन्तु वैशाली पर कुणिक द्वारा होने

वाले आक्रमण का भगवान् ने जरा भी समर्थन नहीं किया। प्रत्युत नरक का अधिकारी बताकर उसके पाप-कर्मों का भंडाफोड़ कर दिया। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो जाता है किन्तु भगवान् महावीर इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते। भला पूर्ण अहिंसा के अवतार रोमांचकारी नर-संहार का समर्थन कैसे कर सकते थे?

जैन तीर्थकरों की अहिंसा का भाव आज की मान्यता के अनुसार निष्क्रियता रूप भी न था। व अहिंसा का अर्थ—प्रेम परोपकार विश्व-बन्धुत्व करते थे। 'स्वयं आनन्द से जीओ और दूसरों को जीने दो' जैन तीर्थंकरों का आदर्श यहीं तक सीमित न था। उनका आदर्श था—दूसरों के जीने में मदद करो बल्कि अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे डालो। वे उस जीवन को कोई महत्त्व न देते थे जो जन-सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रहकर एक मात्र भक्तिवाद के अर्थ-शून्य क्रिया-काण्डों में ही उलझा रहता हो।

भगवान् महावीर ने तो एक बार यहाँ तक कहा था कि मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीन-दुखियों की सेवा करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। मैं उन पर प्रसन्न नहीं जो मेरी भक्ति करते हैं, माला फेरते हैं। मैं तो उन पर प्रसन्न हूँ जो मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। मेरी आज्ञा है—'प्राणिमात्र को सुख सुविधा और आराम पहुँचाना। भगवान् महावीर का यह महान् ज्योतिर्मय सन्देश आज भी हमारी आँखों के सामने है यदि हम थोड़ा-बहुत सत्प्रयत्न करना चाहें। ऊपर के सन्देश का सूक्ष्म बीज यदि हम में से कोई देखना चाहे तो उत्तराध्ययन सूत्र की सर्वार्थसिद्धि वृत्ति में देख सकता है।

अहिंसा के सबसे बड़े समर्थक भगवान् महावीर हैं। आज

दिन तक उन्ही के अमर सन्देशो का गौरव-गान गाया जा रहा है। आपको मालूम है ? आज से ढाई हजार वर्ष पहले का समय, भारतीय सस्कृति के इतिहास मे एक महान् अन्धकारपूर्ण युग माना जाता है। देवी-देवताओ के आगे पशुबलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जाती थी, मासाहार और सुरापान का दौर चलता था। अस्पृश्यता के नाम पर करोडो की सख्या मे मनुष्य अत्याचार की चक्की मे पिस रहे थे। स्त्रियो को भी मनुष्योचित अधिकारो से वचित कर दिया गया था। एक क्या, अनेक रूपो मे सब ओर हिंसा का विशाल साम्राज्य छाया हुआ था। भगवान् महावीर ने उस समय अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया, जिससे भारत की काया पलट हो गई। मनुष्य राक्षसी भावो से हटकर मनुष्यता की सीमा मे प्रविष्ट हुआ। क्या मनुष्य, क्या पशु, सबके प्रति उसके हृदय मे प्रेम का सागर उमड पडा। अहिंसा के सन्देश ने सारे मानवीय सुधारो के महल खडे कर दिए। दुर्भाग्य से आज वे महल फिर गिर रहे है। जल, थल, नभ अभी-अभी खून मे रगे जा चुके है, और भविष्य मे इससे भी भयकर रगने की तैयारियाँ हो रही हैं। तीसरे महायुद्ध का दुःस्वप्न अभी देखना बद नही हुआ है। परमाणु बम के आविष्कार की सब देशो मे होड लग रही है। सब ओर अविश्वास और दुर्भाव चक्कर काट रहे है। अस्तु, आवश्यकता है—आज फिर जैन-सस्कृति के, जैन तीर्थंकरो के, भगवान् महावीर के, जैनाचार्यो के 'अहिंसा परमोधर्म' की। मानव जाति के स्थायी सुखो के स्वप्नो को एक मात्र अहिंसा ही पूर्ण कर सकती है, और नही। "अहिंसा भूतानां जगति विदित ब्रह्म परमम्।"

—दिवाकर अभिनन्दन ग्रन्थ

जैन दर्शन में अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद जैन-दर्शन की आधार शिला है। जैन तत्त्व ज्ञान की सारी इमारत इसी अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। वास्तव में अनेकान्तवाद को—स्याद्वाद को जैन-दर्शन का प्राण समझना चाहिए। जैन धर्म में जब भी जो भी बात कही गई है वह स्याद्वाद की सुनिश्चित कसौटी पर अच्छी तरह जाँच परख कर ही कही गई है। यही कारण है कि दार्शनिक साहित्य में जैन-दर्शन का दूसरा नाम अनेकान्त-दर्शन भी है।

अनेकान्तवाद का अर्थ है—प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टि बिन्दुओं से विचार करना देखना या कहना। अनेकान्तवाद को यदि एक ही शब्द में अर्थ समझना चाहें तो उसे 'अपेक्षावाद' कह सकते हैं। जैन-धर्म में सर्वथा एक ही दृष्टिकोण से पदार्थ के अवलोकन करने की पद्धति को अपूर्ण एवं अप्रामाणिक समझा जाता है और एक ही वस्तु में भिन्न भिन्न अपेक्षा से भिन्न भिन्न धर्मों को कथन करने की पद्धति को पूर्ण एवं प्रामाणिक माना गया है। यह पद्धति ही अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवाद के ही अपेक्षावाद कथंचिद्वाद और स्याद्वाद आदि नामान्तर हैं।

जैन-धर्म की मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ चाहे वह छोटा रजकण हो चाहे बड़ा हिमालय अनन्त धर्मों का समूह है। धर्म का अर्थ—गुण है विशेषता है। उदाहरण के लिए आप फल को ल

लीजिए। फल मे रूप भी है, रस भी है, गध भी है, स्पर्श भी है, आकार भी है, भूख बुझाने की शक्ति है, अनेक रोगो को दूर करने की शक्ति है और अनेक रोगो को पैदा करने की भी शक्ति है। कहाँ तक गिनाएँ ? हमारी बुद्धि बहुत सीमित है। अत हम वस्तु के सब अनन्त धर्मों को बिना केवल-ज्ञान हुए नही जान सकते, परन्तु स्पष्टत प्रतीयमान बहुत से धर्मों को तो जान ही सकते हैं।

हाँ, तो पदार्थ को केवल एक पहलू से, केवल एक धर्म से जानने का या कहने का आग्रह मत कीजिए। प्रत्येक पदार्थ को पृथक्-पृथक् पहलुओ से देखिए और कहिए। इसी का नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत करता है, हमारी विचार-धारा को पूर्णता की ओर ले जाता है।

फल के सम्बन्ध मे जब हम कहते हैं कि—फल मे रूप भी है, रस भी है, गन्ध भी है, स्पर्श भी है आदि-आदि तब तो हम अनेकान्त-वाद का उपयोग करते है और फल का ठीक सत्य निरूपण करते है। इसके विपरीत जब हम एकान्त आग्रह मे आकर यह कहते हैं कि—फल मे केवल रूप ही है, रस ही है, गन्ध ही है, स्पर्श ही है आदि-आदि तब हम मिथ्या सिद्धान्त का प्रयोग करते है। 'भी' मे दूसरे धर्मों की स्वीकृति का स्वर छिपा हुआ है, जब कि 'ही' मे दूसरे धर्मो का स्पष्टत निषेध है। रूप भी है—इसका यह अर्थ है कि फल मे रूप भी है और दूसरे रस आदि धर्म भी है। और रूप ही है—इसका यह अर्थ है कि फल मे रूप ही है और रस आदि कुछ नही। यह 'भी' और 'ही' का अन्तर ही स्याद्वाद और मिथ्यावाद है। 'भी' स्याद्वाद है तो 'ही' मिथ्यावाद।

एक आदमी बाजार मे खडा है। एक ओर से एक लडका आया। उसने कहा—'पिताजी'। दूसरी ओर से एक बूढा आया।

उसने कहा—'पुत्र'। तीसरी ओर से एक प्रचंड व्यक्ति आया। उसने कहा—'भाई'। चौथी ओर से एक लड़का आया। उसने कहा—'मास्टर जी'। मतलब यह है कि—उसी आदमी को कोई चाचा कहता है, कोई ताऊ कहता है, कोई मामा कोई भानजा आदि-आदि। सब झगड़ते हैं—यह तो पिता ही है, पुत्र ही है, भाई ही है, मास्टर ही है चाचा ही है, आदि-आदि। अब बताइए, कैसे निर्णय हो? उनका यह संघर्ष कैसे मिटे? वास्तव में वह आदमी है क्या? यहाँ पर स्याद्वाद को जज बनाना पड़ेगा। स्याद्वाद पहले लड़के से कहता है कि—'हाँ यह पिता भी है। तुम्हारे ही लिए तो पिता है चूँकि तुम इसके पुत्र हो। और सब लोगों का तो पिता नहीं है। बूढ़े से कहता है—'हाँ यह पुत्र भी है। तुम्हारी अपनी अपेक्षा से ही यह पुत्र है सब लोगों की अपेक्षा से तो नहीं। क्या यह सारी दुनिया का पुत्र है? मतलब यह है कि यह आदमी अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है अपने भाई की अपेक्षा भाई है अपने विद्यार्थी की अपेक्षा मास्टर है। इसी प्रकार अपनी-अपनी अपेक्षा से चाचा, ताऊ, भानजा पति मित्र सब है। एक ही आदमी में अनेक धर्म हैं परन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षा से। यह नहीं कि उसी पुत्र की अपेक्षा से पिता उसी की अपेक्षा से पुत्र उसी की अपेक्षा से भाई, मास्टर, चाचा ताऊ, मामा भानजा हो। ऐसा नहीं हो सकता। यह पदार्थ-विज्ञान के नियमों के विरुद्ध है।

अच्छा स्याद्वाद को समझने के लिए तुम्हें कुछ और बताएँ? एक आदमी काफी ऊँचा है, इसलिए कहता है—"मैं बड़ा हूँ।" तुम पूछते हैं 'क्या आप पहाड़ से भी बड़े हैं?' वह झट कहता है—'नहीं साहब पहाड़ से तो मैं छोटा हूँ। मैं तो इस साथ के आदमियों की अपेक्षा से कह रहा था कि मैं बड़ा हूँ।'-अब एक

दूसरा आदमी है। वह अपने साथियों से नाटा है, इसलिए कहता है—'मैं छोटा हूँ।" हम पूछते हैं—"क्या आप चींटी से भी छोटे हैं?" वह झट उत्तर देता है —'नहीं साहब, चींटी से तो मैं बड़ा हूँ। मैं तो अपने इन कद्दावर साथियों की अपेक्षा से कह रहा था कि मैं छोटा हूँ।' अब तुम्हारी समझ में अपेक्षावाद आगया होगा कि हर एक चीज छोटी भी है और बड़ी भी। अपने से बड़ी चीजों की अपेक्षा छोटी है और अपने से छोटी चीजों की अपेक्षा बड़ी है। यह मर्म अनेकान्तवाद के बिना समझ नहीं आ सकता।

अनेकान्तवाद को समझने के लिए प्राचीन आचार्यों ने हाथी का उदाहरण दिया है। एक गाँव में जन्म के अंधे छह मित्र रहते थे। सौभाग्य से वहाँ एक हाथी आ निकला। गाँव वालों ने कभी हाथी देखा न था, धूम मच गई। अंधों ने भी हाथी का आना सुना तो देखने दौड़े। अंधे तो थे ही, देखते क्या? हर एक ने हाथ से टटोलना शुरू किया। किसी ने पूँछ पकड़ी तो किसी ने सूँड, किसी ने कान पकड़ा तो किसी ने दाँत, किसी ने पैर पकड़ा तो किसी ने पेट। एक-एक अंग को पकड़ कर हर एक ने समझ लिया कि मैंने हाथी देख लिया है।

अपने स्थान पर आए तो हाथी के सम्बन्ध में चर्चा छिड़ी। पूँछ पकड़ने वाले ने कहा—"हाथी तो मोटे रस्सा जैसे था।" सूँड पकड़ने वाले दूसरे अन्धे ने कहा—"झूठ, बिल्कुल झूठ। हाथी कहीं रस्सा जैसा होता है। अरे हाथी तो मूसल जैसा था।" तीसरा कान वाला बोला—"आँखें काम नहीं देतीं तो क्या हुआ? हाथ तो धोखा नहीं दे सकते। मैंने हाथी को टटोल कर देखा था, वह ठीक छाज जैसा था।" चौथे सूरदास दाँत वाले बोले—"अरे तुम सब क्या गप्पें मारते हो? हाथी तो ऱ्या यानी कुदाल जैसा था।" पाँचवें पैर वाले महाशय ने कहा—

"अरे कुछ भगवान् का भी भय रखो, नाहक क्यों झूठ बोलते हो? हाथी तो मोटा खंभा जैसा है।" अन्त में उठे सूरदास पेट वाले गरज उठे—"अरे क्यों बकवास करते हो! पहले पाप किए सो अन्धे हुए, अब व्यर्थ का झूठ बोल कर क्यों उन पापों की जड़ों में पानी सींचते हो? हाथी तो भाई मैं भी देखकर आया हूँ। वह अनाज भरने की कोठी जैसा है।" अब क्या था आपस में वाग्युद्ध ठन गया। सब एक-दूसरे की भर्त्सना करने लगे।

सौभाग्य से वहाँ एक आँखों वाला सज्जन आ गया। उसे अंधों की तू-तू मैं-मैं सुनकर हँसी आ गई। पर दूसरे ही क्षण उसका चेहरा गंभीर हो गया। उसने सोचा—"भूल हो जाना अपराध नहीं है किन्तु किसी की भूल पर हँसना अपराध है।" उसका हृदय करुणार्द्र हो गया। उसने कहा—"बन्धुओ क्यों झगड़ते हो? जरा मेरी बात भी सुनो। तुम सब सच्चे भी हो और झूठे भी। तुम में से किसी ने भी हाथी को पूरा नहीं देखा है। एक-एक अवयव को लेकर हाथी की पूर्णता का दावा कर रहे हो। कोई किसी को झूठा मत कहो एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करो। हाथी रस्सा जैसा भी है पूछ की दृष्टि से। हाथी मूसल जैसा भी है सूँड की अपेक्षा से। हाथी छाज जैसा भी है, कान की ओर से। हाथी कुदाल जैसा भी है दाँतों के लिहाज से। हाथी खंभा जैसा भी है पैरों की अपेक्षा से। हाथी अनाज की कोठी जैसा भी है पेट के दृष्टिकोण से।" इस प्रकार समझा-बुझाकर उस सज्जन ने आग में पानी डाला।

संसार में जितने भी एकान्तवादी आग्रही संप्रदाय हैं वे पदार्थ के एक-एक अंश अर्थात् धर्म को ही पूरा पदार्थ समझते हैं। इसीलिए दूसरे धर्म वालों से लड़ते—झगड़ते हैं। परन्तु वास्तव में वह पदार्थ नहीं पदार्थ का एक अंश मात्र है। स्याद्वाद

आँखो वाला दर्शन है। अत वह इन एकान्तवादी अधे दर्शनो को समझाता है कि तुम्हारी मान्यता किसी एक दृष्टि से ही ठीक हो सकती है, सब दृष्टि से नही। अपने एक अश को सर्वथा सब अपेक्षा से ठीक वतलाना और दूसरे अशो को भ्रान्त कहना, विल्कुल अनुचित है। स्याद्वाद इस प्रकार एकान्तवादी दर्शनो की भूल वता कर पदार्थ के सत्यस्वरूप को आगे रखता है और प्रत्येक सम्प्रदाय को किसी एक विवक्षा से ठीक वतलाने के कारण साम्प्रदायिक कलह को शान्त करने की क्षमता रखता है। केवल साम्प्रदायिक कलह हो ही नही, यदि स्याद्वाद का जीवन के हर क्षेत्र मे प्रयोग किया जाए तो क्या परिवार, क्या समाज और क्या राष्ट्र—सभी मे प्रेम एव सद्भावना का राज्य कायम हो सकता है। कलह और सघर्ष का बीज एक-दूसरे के दृष्टिकोण को न समझने मे ही है। और स्याद्वाद इसके समझने मे मदद करता है।

यहाँ तक स्याद्वाद को समझाने के लिए स्थूल लौकिक उदाहरण ही काम मे लाए गए हैं। अव दार्शनिक उदाहरणो का मर्म भी समझ लेना चाहिए। यह विषय जरा गभीर है। अत हमे सूक्ष्म-निरीक्षण पद्धति से काम लेना चाहिए।

अच्छा तो पहले नित्य और अनित्य के प्रश्न को ही ले लें। जैन-धर्म कहता है कि प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। साधारण लोग इस वात पर घपले मे पड जाते हैं कि जो नित्य है, वह अनित्य कैसे हो सकता है? और जो अनित्य है वह नित्य कैसे हो सकता है? परन्तु जैन-धर्म अपने अनेकान्तवाद रूपी महान् अटल सिद्धान्त के द्वारा सहज ही मे इस समस्या को सुलझा लेता है।

कल्पना कीजिए—एक घड़ा है। हम देखते हैं कि जिस मिट्टी से घड़ा बना है उसी से और भी सिकोरा सुराही आदि कई प्रकार के बर्तन बनते हैं। हाँ तो यदि उस घड़े को तोड़कर हम उसी घड़े की मिट्टी का बना हुआ कोई दूसरा बर्तन किसी को दिखलावें तो वह कदापि उसको घड़ा नहीं कहेगा। उसी मिट्टी और द्रव्य के होते हुए भी उसको घड़ा न कहने का कारण क्या है? कारण और कुछ नहीं यही है कि अब उसका आकार घड़े जैसा नहीं है।

इस पर से यह सिद्ध हो जाता है कि घड़ा स्वयं कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है बल्कि मिट्टी का एक आकार-विशेष है। परन्तु यह आकार-विशेष मिट्टी से सर्वथा भिन्न नहीं है उसी का एक रूप है। क्योंकि भिन्न-भिन्न आकारों में परिवर्तित की हुई मिट्टी ही जब घड़ा सिकोरा सुराही आदि भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित होती है तो उस स्थिति में आकार मिट्टी से सर्वथा भिन्न कैसे हो सकता है? इससे साफ जाहिर है कि घड़े का आकार और मिट्टी दोनों ही घड़े के अपने स्वरूप हैं। अब देखना है कि इन दोनों स्वरूपों में विनाशी स्वरूप कौन-सा है और ध्रुव कौन-सा है? यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है कि घड़े का आकार-स्वरूप विनाशी है क्योंकि वह बनता और बिगड़ता है। पहले नहीं था बाद में भी नहीं रहेगा। जैन-दर्शन में इसे पर्याय कहते हैं। और घड़े का जो दूसरा स्वरूप मिट्टी है वह अविनाशी है क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता। घड़े के बनने से पहले भी वह मौजूद थी घड़े के बनने पर भी वह मौजूद है और घड़े के नष्ट हो जाने पर भी वह मौजूद रहेगी। मिट्टी अपने आप में स्थायी तत्त्व है उसे बनना-बिगड़ना नहीं है। जैन-दर्शन में इसे द्रव्य कहते हैं।

इतने विवेचन पर से अब यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि घडे का एक स्वरूप विनाशी है, और दूसरा अविनाशी। एक जन्म लेता है और नष्ट हो जाता है, दूसरा सदा सर्वथा बना रहता है, नित्य रहता है। अतएव अब हम अनेकान्तवाद की दृष्टि से यो कह सकते है कि घडा अपने आकार की दृष्टि से=विनाशी रूप से अनित्य है और अपने मूल मिट्टी के रूप से=अविनाशी रूप से नित्य है। जैन दर्शन की भाषा मे कहे तो यो कह सकते है कि—घडा अपने पर्याय की दृष्टि से अनित्य है और द्रव्य की दृष्टि से नित्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु मे परस्पर विरोधी जैसे दीखने वाले नित्यता और अनित्यता रूप धर्मों को सिद्ध करने वाला सिद्धान्त ही अनेकान्तवाद है।

अच्छा, इसी विषय पर जरा और विचार कीजिए। जगत के सब पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—इन तीन धर्मों से युक्त है। जैन-दर्शन मे इनके लिए क्रमश उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय शब्दो का प्रयोग किया गया है। आप कहेगे—एक वस्तु मे परस्पर विरोधी धर्मों का सभव कैसे हो सकता है? इसे समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। एक सुनार के पास सोने का कगन है। वह उसे तोडकर गलाकर हार बना लेता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कगन का नाश होकर हार की उत्पत्ति हो गई। परन्तु इससे आप यह नही कह सकते कि कगन बिल्कुल ही नष्ट हो गया, और हार बिल्कुल ही नया बन गया। क्योकि कगन और हार मे जो सोने के रूप मे मूल तत्व है, वह तो ज्यो का त्यो अपनी उसी स्थिति मे विद्यमान है। विनाश और उत्पत्ति केवल आकार की ही हुई है। पुराने आकार का नाश हुआ है, और नये आकार की उत्पत्ति हुई है। इस उदाहरण मे, सोने मे

कंगन के आकार का नाश हार के आकार की उत्पत्ति सोने की स्थिति—ये तीनों धर्म भली भाँति सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में उत्पत्ति स्थिति और विनाश—ये तीनों गुण स्वभावतया रहते हैं। कोई भी वस्तु जब नष्ट हो जाती है तो इससे यह न समझना चाहिए कि उसके मूल तत्व ही नष्ट हो गए। उत्पत्ति और विनाश तो उसके स्थूल रूप के होते हैं। स्थूल वस्तु के नष्ट हो जाने पर उसके सूक्ष्म परमाणु तो सदा स्थित ही रहते हैं। वे सूक्ष्म परमाणु, दूसरी वस्तु के साथ मिलकर नवीन रूपों का निर्माण करते हैं। वैशाख और ज्येष्ठ के महीने में सूर्य की किरणों से जब तालाब आदि का पानी सूख जाता है तब यह समझना भूल है कि पानी का सर्वथा अभाव हो गया है उसका अस्तित्व पूर्णतया नष्ट हो गया है। पानी चाहे अब भाप या गैस आदि किसी भी रूप में क्यों न हो पर बराबर विद्यमान है। यह हो सकता है कि उसका यह सूक्ष्म रूप हमें दिखाई न दे परन्तु यह तो कदापि संभव नहीं कि उसकी सत्ता ही नष्ट हो जाए सर्वथा अभाव ही हो जाए। अतएव यह सिद्धान्त अटल है कि न तो कोई वस्तु मूल रूप से अपना अस्तित्व खोकर नष्ट ही होती है और न सर्वथा असत्-अलग रूप में अभाव न मात्र होकर नवीन उत्पन्न ही होती है। आधुनिक पदार्थ-विज्ञान अर्थात् साइंस भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करता है। वह कहता है कि—'प्रत्येक वस्तु मूल प्रकृति के रूप में ध्रुव स्थिर है और उससे उत्पन्न होने वाले पदार्थ उसके भिन्न-भिन्न रूपान्तर मात्र हैं।

हाँ तो उपर्युक्त उत्पत्ति स्थिति और विनाश—इन तीन गुणों में से जो मूल वस्तु सदा स्थित रहती है उसे जैन-दर्शन में द्रव्य कहते हैं और जो उत्पन्न एवं विनिष्ट होता रहता है उसे

पर्याय कहते हैं। कगन से हार बनने वाले उदाहरण मे—सोना द्रव्य है, और कगन तथा हार—पर्याय हैं। द्रव्य की अपेक्षा से हर एक वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ को न एकान्त नित्य और न एकान्त अनित्य, प्रत्युत नित्यानित्य उभय रूप से मानना ही अनेकान्तवाद है।

यही सिद्धान्त सत् और असत् के सम्बन्ध मे है। कितने ही सम्प्रदाय कहते हैं—'वस्तु सत् है।' इसके विपरीत दूसरे सम्प्रदाय कहते हैं कि – 'वस्तु सर्वथा असत् है।' दोनो ओर से सघर्ष होता है, वाग्युद्ध होता है। अनेकान्तवाद ही इस सघर्ष का समाधान कर सकता है। अनेकान्तवाद कहता है कि प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी है, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ है भी और नही भी। अपने स्वरूप से है और पर-स्वरूप से नही है। अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता पितारूप से सत् है, और पर-पुत्र की अपेक्षा से पिता पितारूप से असत् है। यदि वह पर-पुत्र की अपेक्षा से भी पिता ही है, तो ससार का पिता हो जाएगा, और यह असभव है। आपके सामने एक कुम्हार है। उसे कोई सुनार कहता है। अब यदि वह यह कहे कि मैं तो कुम्हार हूँ, सुनार नही हूँ तो क्या अनुचित कहता है। कुम्हार की दृष्टि मे यद्यपि वह सत् है, तथापि सुनार की दृष्टि से वह असत् है। कल्पना कीजिए—सौ घडे रखे हैं। घडे की दृष्टि से तो सब घडे हैं, इसलिए सत् हैं। परन्तु प्रत्येक घडा अपने गुण, धर्म और स्वरूप से ही सत् है, पर-गुण, पर-धर्म और पर-स्वरूप से नहीं है। घडो मे भी आपस मे भिन्नता है। एक मनुष्य अकस्मात् किसी दूसरे के घडे को उठा लेता है, और फिर पहचानने पर यह कहे कि यह मेरा नही है, वापिस रख देता है। इस दशा मे घडे मे असत् नही तो क्या है? 'मेरा नही है'—इसमे मेरा के आगे जो

'नहीं' शब्द है वही असत् का अर्थात् नास्तित्व का सूचक है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अपनी सीमा में है सीमा से बाहर नहीं। अपना स्वरूप अपनी सीमा में है और दूसरों का स्वरूप अपनी सीमा से बाहर। यदि हर एक वस्तु, हर एक वस्तु के रूप मे सत् हो जाए तो फिर संसार मे कोई व्यवस्था ही न रहे। दूध दूध के रूप मे भी सत् हो दही के रूप म भी सत् हो छाछ के रूप मे भी सत् हो पानी के रूप म भी सत् हो तब तो दूध के बदले मे दही छाछ या पानी हर कोई लेने सकता है। याद रखो— दूध दूध के रूप में सत् है दही आदि के रूप मे नहीं। क्योंकि स्व-रूप सत् है पर-रूप असत्।

स्याद्वाद का अमर सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा सिद्धान्त माना गया है। महात्मा गांधी जैसे संसार में महान् पुरुषो ने भी इसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। पाश्चात्य विद्वान् डा० थामस आर्नि का भी कहना है कि—"स्याद्वाद का सिद्धान्त बड़ा ही गम्भीर है। यह वस्तु की भिन्न भिन्न स्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है। वस्तुतः स्याद्वाद सत्यज्ञान की कुञ्जी है। आज संसार म जो सब ओर धार्मिक सामाजिक राष्ट्रीय आदि वैर-विरोध का बोलबाला है वह स्याद्वाद के द्वारा ही दूर हो सकता है। दार्शनिक क्षेत्र मे स्याद्वाद सम्राट् है उसके सामने आते ही कलह ईर्ष्या अनुदारता साम्प्रदायिकता और संकीर्णता आदि दोष भयभीत होकर भाग जाएँगे। जब कभी विश्व में शान्ति का रामराज्य स्थापित होगा वह स्याद्वाद के द्वारा ही होगा—यह बात अटल है अचल है।

●●

विभिन्न दर्शनों का समन्वय

भारतवर्ष मे दार्शनिक विचारधारा का जितना विकास हुआ है, उतना अन्यत्र नही हुआ। भारतवर्ष दर्शन की जन्म-भूमि है। यहाँ भिन्न-भिन्न दर्शनो के भिन्न-भिन्न विचार विना किसी प्रतिवन्ध और नियत्रण के फलते-फूलते रहे हैं। यदि भारत के सभी पुराने दर्शनो का परिचय दिया जाए तो एक वहुत विस्तृत ग्रन्थ हो जाए। अत यहाँ विस्तार मे न जाकर सक्षेप मे ही भारत के वहुत पुराने पांच दार्शनिक विचारो का परिचय दिया जाता है। भगवान् महावीर के समय मे भी इन दर्शनो का अस्तित्व था। और आज भी वहुत से लोग इन दर्शनो के विचार रखते हैं।

पहले ही लम्बी चर्चा म उतर जाने से तुम्हे जरा कष्ट होगा, अत सर्वप्रथम तुम्हें पाँचो का नाम बतादूँ तो अच्छा रहेगा न? पाँचो के नाम इस प्रकार हैं—१ कालवाद, २ स्वभाववाद, ३ कर्मवाद, ४ पुरुषार्थवाद, और ५ नियतिवाद। इन पाँचो दर्शनो का आपस मे भयकर सघर्ष है और प्रत्येक परस्पर मे एक-दूसरे का खण्डन कर केवल अपने ही द्वारा कार्य-सिद्ध होने का दावा करता है।

१ कालवाद—यह दर्शन वहुत पुराना है। वह काल को ही सव से वडा महत्त्व देता है। कालवाद कहता है कि ससार

में जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं सब काल के प्रभाव से ही हो रहे हैं। काल के बिना स्वभाव कर्म पुरुषार्थ और नियति कुछ भी नहीं कर सकते। एक व्यक्ति पाप या पुण्य का कार्य करता है परन्तु उसी समय उसका फल नहीं मिलता। समय आने पर ही अच्छा-बुरा फल प्राप्त होता है। एक बच्चा आज जन्म लेता है। आप उसे कितना ही चलाइए, वह चल नहीं सकता। कितना ही बुलवाइए, बोल नहीं सकता। समय आने पर ही चलेगा और बोलेगा। जो बालक आज सेर भर का पत्थर नहीं उठा सकता वह काल-परिपाक के बाद युवा होने पर मन भर पत्थर को अधर उठा लेता है। आम का वृक्ष आज बोया है क्या आज ही मधुर फलों का रसास्वादन कर सकते हैं? वर्षा के बाद कहीं आसफल के दर्शन होंगे। ग्रीष्म ऋतु में ही सूर्य तपता है शीतकाल में ही शीत पड़ता है। युवावस्था में ही पुरुष के दाढ़ी-मूँछ आती हैं। मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता। समय आने पर ही सब कार्य होते हैं। काल की बड़ी महिमा है।

२ स्वभाववाद—यह दर्शन भी कुछ कम वजनदार नहीं है। वह भी अपने समर्थन में बड़े अच्छे तर्क उपस्थित करता है। स्वभाववाद का कहना है कि संसार में जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं सब वस्तुओं के अपने स्वभाव के प्रभाव से ही हो रहे हैं। स्वभाव के बिना काल कर्म नियति आदि कुछ भी नहीं कर सकते। आम की गुठली में आम का वृक्ष होने का स्वभाव है उसी कारण माली का पुरुषार्थ सफल होता है और समय पर वृक्ष तैयार हो जाता है। यदि काल ही सब कुछ कर सकता है तो क्या निबौली से आम का वृक्ष उत्पन्न कर सकता है? कभी नहीं। स्वभाव का
[illegible] है।

नीम के वृक्ष को गुड और घी मे सीचते रहिए, क्या वह मधुर हो सकता है ? दही विलोने से ही मक्खन निकलता है, पानी से नही, क्योकि दही मे ही मक्खन देने का स्वभाव है। अग्नि का स्वभाव गर्म है , जल का स्वभाव शीतल है, सूर्य का स्वभाव दिन करना है और तारो का स्वभाव रात करना है । प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव के अनुसार कार्य कर रही है। स्वभाव के समक्ष विचारे काल आदि क्या कर सकते है ?

३ कर्मवाद—यह दर्शन तो भारतवर्ष मे बहुत नामी-गिरामी दर्शन है। यह एक प्रबल दार्शनिक विचारधारा है। कर्मवाद का कहना है कि काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि सब नगण्य है। ससार मे सर्वत्र कर्म का ही एकछत्र साम्राज्य है। देखिए—एक माता के उदर मे एक साथ दो बालक जन्म लेते है, उनमे एक बुद्धिमान् होता है, दूसरा मूर्ख। ऊपर का वातावरण, रग-ढग एक होने पर भी यह भेद क्यो है ? इस भेद का कारण कर्म है। एक रिक्शा मे बैठने वाला है तो दूसरा उसे पशु की तरह खीचने वाला है। मनुष्य के नाते बराबर होने पर भी कर्म के कारण मे भेद है। बडे-बडे बुद्धिमान् चतुर पुरुष भूखो मरते हैं, और वज्र मूर्ख गद्दी-तकियो के सहारे सेठ बनकर आराम करते है। एक को मांगने पर भीख भी नही मिलती, दूसरा रोज हजार-बारह-सौ खर्च कर डालता है। एक के तन पर कपडे के नाम पर चिथडे भी नही है, और दूसरे के यहाँ कुत्ते भी मखमल के गद्दो पर लेट लगाते है। यह सब क्या है, अपने-अपने कर्म है। राजा को रक, और रक को राजा बनाना, कर्म के बाएँ हाथ का खेल है। तभी तो एक विद्वान् ने कहा है—'गहना कर्मणो गति ।' अर्थात्—कर्म की गति बडी गहन है।

४ पुरुषार्थवाद—इस दर्शन का भी संसार में कम महत्त्व नहीं है। यह ठीक है कि जनता ने पुरुषार्थवाद के दर्शन को अभी तक अच्छी तरह नहीं समझा है और उसने कर्म, स्वभाव तथा काल आदि को ही अधिक महत्त्व दिया है परन्तु पुरुषार्थवाद कहता है कि बिना पुरुषार्थ के संसार का एक भी कार्य सफल नहीं हो सकता। संसार में जहाँ कहीं भी जो कार्य होता देखा जाता है उसके मूल में कर्ता का अपना पुरुषार्थ ही छिपा हुआ होता है। काल कहता है कि समय आने पर ही सब कार्य होता है। परन्तु उस समय में भी यदि पुरुषार्थ न हो तो क्या कार्य हो जाएगा? आम की गुठली में आम पैदा करने का स्वभाव है परन्तु क्या बिना पुरुषार्थ के यों ही कोठे में रखी हुई गुठली में से आम का पेड़ लग जाएगा? कर्म का फल भी क्या बिना पुरुषार्थ के यों ही हाथ पर हाथ धरकर बैठे हुए मिल जाएगा? संसार में मनुष्य ने जो भी उन्नति की है, वह अपने प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा ही की है। आज का मनुष्य हवा में उड़ रहा है, जल में तैर रहा है, पहाड़ों को काट रहा है, परमाणु बम जैसे महान् आविष्कारों को तैयार करने में सफल हो रहा है, यह सब मनुष्य का अपना पुरुषार्थ नहीं तो क्या है? एक मनुष्य भूखा है, कई दिन का भूखा है। कोई दयालु सज्जन मिठाई का थाल भरकर सामने रख देता है, वह नहीं खाता है। मिठाई लेकर मुँह में डाल देता है फिर भी नहीं चबाता है और गले से नीचे नहीं उतारता है। अब कहिए बिना पुरुषार्थ के क्या होगा? क्या यों ही भूख बुझ जाएगी? आखिर मुँह में डाली हुई मिठाई को चबाने का और चबाकर गले के नीचे उतारने का पुरुषार्थ तो करना ही होगा। सोये हुए सिंह के मुख में अपने आप हिरन आकर नहीं पड़ते हैं। तभी कहा है—"पुरुष हो पुरुषार्थ करो उठो।"

५ नियतिवाद—यह दर्शन जरा गभीर है। प्रकृति के अटल नियमो को 'नियति' कहते हैं। नियतिवाद का कहना है कि—ससार मे जितने भी कार्य होते है, सब नियति के अधीन ही होते है। सूर्य पूर्व मे ही उदय होता है, पश्चिम मे क्यो नही ? कमल जल मे ही उत्पन्न हो सकता है, शिला पर क्यो नही ? पक्षी आकाश मे उड सकते है, गधे घोडे क्यो नही ? हस श्वेत क्यो है ? कोयल काली क्यो है ? पशु के चार पैर होते है, मनुष्य के दो ही क्यो हैं ? अग्नि की ज्वाला जलते ही ऊपर को क्यो जाती है ? इन सब प्रश्नो का उत्तर केवल यही है कि प्रकृति का नियम है, वह अन्यथा नही हो सकता। यदि वह अन्यथा होने लगे तो फिर ससार मे प्रलय ही हो जाए। सूर्य पश्चिम म उगने लगे, अग्नि शीतल हो जाए, गधे-घोडे आकाश मे उडने लगें तो फिर ससार मे कोई व्यवस्था ही न रहे ! नियति के अटल सिद्धान्त के समक्ष अन्य सब सिद्धान्त तुच्छ है। कोई भी व्यक्ति प्रकृति के अटल नियमो के प्रतिकूल नही जा सकता। अत नियति ही सब से महान् है। (कुछ आचार्य नियति का अर्थ 'होनहार' भी करते हैं)।

तुमने देखा, उपर्युक्त पाँचो वाद किस प्रकार अपने आपको तानते है और दूसरे का खण्डन करते है। इस खण्डन-मण्डन के कारण साधारण जनता मे बहुत भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई है। वह सत्य के मूल मर्म को समझने मे असमर्थ है। भगवान् महावीर ने इस सघर्ष की समस्या को बडी अच्छी तरह सुलझाया है। ससार के सामने भगवान् ने वह बात रखी है, जो पूर्णतया सत्य पर आधारित है।

भगवान् महावीर का कहना है कि पाँचो ही वाद अपने-अपने स्थान पर ठीक है। ससार मे जो भी कार्य होता है, वह इन पाँचो के समवाय से, अर्थात् मेल से ही होता है। ऐसा कभी नही

हो सकता कि एक ही अपने बल पर काम सिद्ध कर दे। बुद्धिमान मनुष्य को आग्रह छोड़कर सब का समन्वय करना चाहिए। बिना समन्वय किए कार्य मे सफलता की आशा रखना दुराशा मात्र है। यह हो सकता है कि किसी कार्य में कोई एक प्रधान हो और दूसरे सब कुछ गौण हों। परन्तु यह नही हो सकता कि कोई एक स्वतंत्र रूप से कार्य सिद्ध कर दे।

भगवान् महावीर का उपदेश पूर्णतया सत्य है। हम इसे समझने के लिये आम बोने वाले माली का उदाहरण ले सकते हैं। माली बाग मे आम की गुठली बोता है यहाँ पाँचों कारणो के समन्वय से ही वृक्ष होगा। आम की गुठली मे आम पैदा करने का स्वभाव है परन्तु बोने का और बोकर रक्षा का पुरुषार्थ न हो तो क्या होगा ? बोने का पुरुषार्थ कर भी लिया परन्तु बिना निश्चित काल का परिपाक हुए आम यों ही जल्दी थोड़ा ही तैयार हो जाएगा। काल की मर्यादा पूरी होने पर भी यदि शुभ कर्म अनुकूल नही है तो फिर भी आम नही लगने का। कभी-कभी किनारे आया हुआ जहाज भी डूब जाता है। अब रही नियति। वह तो सब कुछ है ही। आम से आम होना—प्रकृति का नियम है इससे कौन इन्कार कर सकता है ?

पढ़ने वाले विद्यार्थी के लिए भी पाँचों कारण आवश्यक हैं। पढ़ने के लिए चित्त की एकाग्रता रूप स्वभाव हो समय का योग भी दिया जाए पुरुषार्थ यानी प्रयत्न भी किया जाए, अशुभ कर्म का क्षय तथा शुभ कर्म का उदय भी हो और प्रकृति के नियम 'नियति' का भी ध्यान रखा जाए तभी वह पढ-लिखकर विद्वान् हो सकता है। अनेकान्तवाद के द्वारा किया जाने वाला यह समन्वय वस्तुतः जनता को सत्य का प्रकाश दिखलाता है।

●●

अवतारवाद या उत्तारवाद

ब्राह्मण-सस्कृति अवतारवाद मे विश्वास करती है। ईश्वर एक सर्वोपरि शक्ति है। वह भूमण्डल पर अवतार धारण कर मनुष्य आदि का रूप लेती है और अधर्म का नाश कर धर्म की स्थापना करती है। यह है अवतारवाद की मूल भावना। ससार मे राम, कृष्ण आदि जितने भी महापुरुष हुए हैं, ब्राह्मण-सस्कृति ने सब को ईश्वर का अवतार माना है और कहा है कि भूमि का भार उतारने के लिए समय-समय पर ईश्वर को विभिन्न रूपो मे जन्म ग्रहण करना पडता है।

इसके विपरीत श्रमण-सस्कृति, फिर चाहे वह जैन-सस्कृति हो अथवा बौद्ध-सस्कृति, अवतारवाद की धारणा मे किसी भी तरह का विश्वास नही रखती। श्रमण-सस्कृति का आदि काल से यही आदर्श रहा है कि इस ससार को बनाने-बिगाडने वाली ईश्वर या अन्य किसी भी नाम की कोई भी सर्वोपरि शक्ति नहीं है। अत जबकि लोक प्रकल्पित सर्व-सत्ताधारी ईश्वर ही कोई नही है, तब उसके अवतार लेने की बात को तो अवकाश ही कहाँ रहता है ? यदि कोई ईश्वर हो भी, तो वह सर्वज्ञ शक्तिमान क्यो नीचे उतर कर आए ? क्यो मत्स्य, वराह एव मनुष्य आदि का रूप ले ? क्या वह जहाँ है, वहा से ही अपनी अनन्त शक्ति के प्रभाव से भूमि का भार हरण नही कर सकता ? अवतारवाद के

मूल मे एक प्रकार से मानव-मन की हीन भावना ही काम कर रही है। वह यह कि मनुष्य आखिर मनुष्य ही है। वह कैसे इतने महान् कार्य कर सकता है? अत संसार में जितने भी विश्वोपकारी महान् पुरुष हुए हैं, वे सब वस्तुत मनुष्य नहीं थे ईश्वर थे और ईश्वर के अवतार थे। ईश्वर थे तभी तो इतने महान् आश्चर्यजनक कार्य कर गए। अन्यथा बेचारा आदमी यह सब कुछ कर सकता था? कदापि नहीं।

अवतारवाद का भावार्थ ही यह है—नीचे उतरो हीनता का अनुभव करो। अपने को पंगु, बेबस लाचार समझो। जब भी कभी महान् कार्य करने का प्रसंग आए, देश या धर्म पर घिरे हुए संकट एवं अत्याचार के बादलों को साफ करने का अवसर आए, तो बस ईश्वर के अवतार लेने का इन्तजार करो सब प्रकार से दीन-हीन एवं पंगु मनोवृत्ति से ईश्वर के चरणों में शीघ्र से शीघ्र अवतार लेने के लिए पुकार करो। वही संकटहारी है। अत कुछ परिवर्तन ला सकता है। अवतारवाद कहता है कि—"देखना तुम कहीं कुछ कर न बैठना! तुम मनुष्य हो पामर हो। अस्तु, तुम्हारे करने से कुछ नहीं होगा। ईश्वर का काम भला दो हाथ वाला हाड मास का पिंजर क्षुद्र मनुष्य कैसे कर सकता है? ईश्वर की बराबरी करना नास्तिकता है परले सिरे की मूर्खता है। इस प्रकार अवतारवाद अपने मूल रूप म दास-भावना का अग्रदूत बरदार है।

अवतारवाद की मान्यता पर खड़ी की गई संस्कृति मनुष्य की श्रेष्ठता एवं पवित्रता मे विश्वास नहीं रखती। उसकी मूल भाषा मे मनुष्य एक द्विपद जन्तु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मनुष्य का अपना भविष्य उसके अपने हाथ मे नहीं है वह एक मात्र सर्वशक्तिमान ईश्वर के हाथ में है। वह जो चाहे कर सकता

है। मनुष्य उसके हाथ की कठपुतली है। वह पुराणों की भाषा में—'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'—व्याख्या के अनुसार विश्व का सार्वाधिकारी सम्राट् है। "भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया"—

मनुष्य कितनी ही ऊँची साधना करे, कितना ही सत्य तथा अहिंसा के ऊँचे शिखरों पर विचरण करे, परन्तु वह ईश्वर कभी नहीं बन सकता। मनुष्य के विकास की कुछ सीमा है, और वह सीमा ईश्वर की इच्छा के नीचे है। मनुष्य को चाहिए कि वह उसकी कृपा का भिखारी बन कर रहे। इसीलिए तो श्रमणेत्तर संस्कृति का ईश्वर कहता है—मनुष्य! तू मेरी शरण में आ, मेरा स्मरण कर। तू क्यों डरता है? मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर। हाँ, मुझे अपना स्वामी मान और अपने को मेरा दास! बस, इतनी-सी शर्त पूरी करनी होगी, और कुछ नहीं। 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'—

कोई भी विचारशील साधक विचार कर सकता है कि यह मान्यता मानव-समाज के नैतिक बल को घटाती है, या नहीं? कोई भी समाज इस प्रकार की विचार-परम्परा का प्रचार कर अपने आचरण के स्तर को ऊँचा नहीं कर सकता। यही कारण है कि भारतवर्ष की जनता का नैतिक स्तर बराबर नीचे गिरता आ रहा है। लोग पाप से नहीं बचना चाहते, पाप के फल से बचना चाहते हैं। और पाप के फल से बचने के लिए भी किसी ऊँची कठोर साधना की आवश्यकता नहीं है, केवल ईश्वर या ईश्वर के अवतार 'राम', 'कृष्ण' आदि की शरण में पहुँच जाना ही उनकी दृष्टि में सब से बड़ी साधना है, बस उसी से बेड़ा पार है। जहाँ मात्र अपने मनोरंजन के लिए तोते को राम-नाम रटाते हुए वेश्याएँ तर जाती हों और मरते समय मोह-वश अपने पुत्र

नारायण को पुकारते भर से सर्वनियन्ता नारायण के दूत दौड़े आते हों एवं उस जीवन भर के पापी अजामिल को स्वर्ग ले पहुँचाते हों वहाँ भला जीवन की नैतिकता और सदाचरण की महत्ता का क्या मूल्य रह जाता है? सस्ती भक्ति धर्माचरण के महत्व को गिरा देती है।

अवतारवाद के आदर्श केवल आदर्श मात्र रह जाते हैं। वे जनता के द्वारा अपनाने योग्य यथार्थता के रूप में कभी नहीं उतर पाते। अतएव जब लोग राम कृष्ण आदि किसी अवतारी महापुरुष की जीवन-लीला सुनते हैं तो किसी ऊँचे आदर्श की बात आने पर झटपट कह उठते हैं कि— 'अहा क्या कहना है! प्रभो समवान् वे भगवान्! भला भगवान् के अतिरिक्त और कौन दूसरा यह काम कर सकता है।' इस प्रकार हमारे प्राचीन महापुरुषों के अहिंसा दया दान सत्य परोपकार आदि जितने भी श्रेष्ठ एवं महान् गुण हैं, उन सबसे अवतारवादी लोग मुँह मोड़ लेते हैं अपने को साफ बचा लेते हैं। अवतारवादियों के यहाँ जो कुछ भी है सब प्रभु की लीला है। वह केवल सुनने-भर के लिए है आचरण करने के लिए नहीं। भला सर्वशक्तिशाली ईश्वर के कामों का मनुष्य कहीं आचरण कर सकता है?

कुछ प्रसंग तो ऐसे भी आते हैं जो केवल दोषों को ढाँकने का ही प्रयत्न करते हैं। जब कोई विचारक किसी भी अवतार के रूप में माने जाने वाले व्यक्ति का जीवन-चरित्र पढ़ता है और उसमें कोई नैतिक जीवन की भूल पाता है फलतः विचारक होने के नाते उचित आलोचना करता है अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहता है तो अवतारवादी लोग विचारक का यह अधिकार छीन लेते हैं। ऐसे प्रसंगों पर वे प्रायः कहा करते हैं— अरे तुम क्या जानो? यह सब उस महाप्रभु की माया है। वह

नारायण को पुकारने भर से सर्वनियन्ता नारायण के दूत दौड़े आते हों एवं उस जीवन-भर के पापी अजामिल को स्वर्ग से पहुँचाते हों वहाँ भला जीवन की नैतिकता और सदाचरण की महत्ता का क्या मूल्य रह जाता है? ऐसी भक्ति धर्माचरण के महत्व को गिरा देती है।

अवतारवाद के आदर्श केवल आदर्श मात्र रह जाते हैं। वे जनता के द्वारा अपनाने योग्य यथार्थता के रूप में कभी नहीं उतर पाते। अतएव जब लोग राम कृष्ण आदि किसी अवतारी महापुरुष की जीवन-लीला सुनते हैं तो किसी ऊँचे आदर्श की बात आने पर झटपट कह उठते हैं कि—'अहा क्या कहना है! अजी भगवान् थे भगवान्! भला भगवान् के अतिरिक्त और कौन दूसरा यह काम कर सकता है। इस प्रकार हमारे प्राचीन महापुरुषों के अहिंसा दया दान सत्य परोपकार आदि जितने भी श्रेष्ठ एवं महान् गुण हैं उन सबसे अवतारवादी लोग मुँह मोड़ लेते हैं अपने को साफ बचा लेते हैं। अवतारवादियों के यहाँ जो कुछ भी है सब प्रभु की लीला है। वह केवल सुनने भर के लिए है आचरण करने के लिए नहीं। भला सर्वशक्तिशाली ईश्वर के कामों का मनुष्य कहीं आचरण कर सकता है?

कुछ प्रसंग तो ऐसे भी आते हैं जो केवल दोषों को ढाँकने का ही प्रयत्न करते हैं। जब कोई विचारक किसी भी अवतार के रूप में माने जाने वाले व्यक्ति का जीवन-चरित्र पढ़ता है, और उसमें कोई नैतिक जीवन की भूल पाता है फलत: विचारक होने के नाते उचित आलोचना करता है अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहता है तो अवतारवादी लोग विचारक का यह अधिकार छीन लेते हैं। ऐसे प्रसंगों पर वे प्राय: कहा करते हैं—'अरे तुम क्या जानो? यह सब उस महाप्रभु की माया है। वह

हाड़-मांस का चलता-फिरता पिंजरा नहीं है, प्रत्युत वह अनन्त अनन्त शक्तियों का पुञ्ज है। वह देवताओं का भी देवता है, स्वयं-सिद्ध ईश्वर है। परन्तु जब तक वह संसार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है, तब तक वह अन्धकार से घिरा हुआ सूर्य है, फलतः प्रकाश दे तो कैसे दे? सूर्य को प्रकाश देने से पहले रात्रि के सघन अन्धकार को चीर कर बाहर आना ही होगा।

हाँ, तो ज्यों ही मनुष्य अपने होश में आता है, अपने वास्तविक आत्म स्वरूप को पहचानता है, पर-परिणति को त्याग कर स्व-परिणति को अपनाता है, तो धीरे-धीरे निर्मल, शुद्ध एवं स्वच्छ होता चला जाता है और एक दिन अनन्तानन्त जगमगाती हुई आध्यात्मिक शक्तियों का पुञ्ज बनकर शुद्ध बुद्ध परमात्मा अरिहन्त, ब्रह्म तथा ईश्वर बन जाता है। श्रमण-संस्कृति में आत्मा की चरम शुद्ध दशा का नाम ही ईश्वर है, परमात्मा है। इसके अतिरिक्त और कोई अनादि-सिद्ध ईश्वर नहीं है। "कर्म-बद्धो भवेज्जीवः कर्म-मुक्तस्तथा जिनः।"

यह है श्रमण-संस्कृति का उत्तारवाद, जो मनुष्य को अपनी ही आत्म-साधना के बल पर ईश्वर होने के लिए ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा देता है। यह मनुष्य के अनादि काल से सोये हुए साहस को जगाता है, विकसित करता है और उसे सत्कर्मों की ओर मोड़ता है, किन्तु उसे पामर मनुष्य कहकर भंग नहीं करता। इस प्रकार श्रमण-संस्कृति मानव-जाति को सर्वोपरि विकास-बिन्दु की ओर अग्रसर होना सिखाती है।

श्रमण-संस्कृति का हजारों वर्षों से यह आघोष रहा है कि वह सर्वथा परोक्ष एवं अज्ञात ईश्वर में बिल्कुल विश्वास नहीं रखती। इसके लिए उसे तिरस्कार, अपमान, लाञ्छना, भर्त्सना और

हाड़-मांस का ममता-लिपटा पिंजरा नहीं है प्रत्युत वह अनन्त अनन्त शक्तियों का पुञ्ज है। वह देवताओं का भी देवता है स्वयं-सिद्ध ईश्वर है। परन्तु जब तक वह संसार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है तब तक वह अन्धकार से घिरा हुआ सूर्य है फलतः प्रकाश दे तो कैसे दे ? सूर्य को प्रकाश देने से पहले रात्रि के सघन अन्धकार को चीर कर बाहर आना ही होगा।

हाँ तो ज्यों ही मनुष्य अपने होश में आता है अपने वास्तविक आत्म-स्वरूप को पहचानता है पर-परिणति को त्याग कर स्व-परिणति को अपनाता है तो धीरे-धीरे निर्मल शुद्ध एवं स्वच्छ होता चला जाता है और एक दिन अनन्तानन्त चमत्कारी दुर्द आध्यात्मिक शक्तियों का पुञ्ज बनकर शुद्ध बुद्ध परमात्मा अरिहन्त बद्ध तथा ईश्वर बन जाता है। श्रमण-संस्कृति में आत्मा की चरम शुद्ध दशा का नाम ही ईश्वर है, परमात्मा है। इसके अतिरिक्त और कोई अनादि-सिद्ध ईश्वर नहीं है। "कर्म-बद्धो भवेज्जीवः कर्म-मुक्त स्तथा शिव।

यह है श्रमण-संस्कृति का उत्तारवाद जो मनुष्य को अपनी ही आत्म-साधना के बल पर ईश्वर होने के लिए ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा देता है। यह मनुष्य के अनादि काल से सोये हुए साहस को जगाता है विकसित करता है और उसे सत्कर्मों की ओर मोड़ता है किन्तु उसे पामर मनुष्य कहकर भ्रम नहीं करता। इस प्रकार श्रमण-संस्कृति मानव-जाति को सर्वोपरि विकास-बिन्दु की ओर अग्र सर होना सिखाती है।

श्रमण-संस्कृति का हजारों वर्षों से यह आक्षेप रहा है कि वह सर्वथा परोक्ष एवं अज्ञात ईश्वर में बिल्कुल विश्वास नहीं रखती। इसके लिए उसे तिरस्कार अपमान लाञ्छना भर्त्सना और

वासनाओं से मुँह मोड़कर सत्पथ के पथिक बन और आत्म-संयम की साधना में लगातार अनेक जन्म बिताकर अन्त में एक दिन वह मानव-जन्म प्राप्त किया कि जहाँ आत्म-साधना के विकास-स्वरूप अरिहन्त जिन एवं तीर्थङ्कर रूप में प्रकट हुए।

श्रमण-संस्कृति के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में आज भी उनके पतनो-त्थान-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण अनुभव एवं धर्म-साधना के अमर चरण-चिह्न मिल रहे हैं जिन पर यथासाध्य चलकर हर कोई साधक अपना आत्म-कल्याण कर सकता है, अरिहन्त एवं जिन बन सकता है। राग-द्वेष-विजेता अरिहन्तों के जीवन-सम्बन्धी उच्च आदर्श साधक-जीवन के लिए अमर अभ्युदय एवं निःश्रेयस के रेखा-चित्र उपस्थित करते हैं। अतएव श्रमण-संस्कृति का उत्तारवाद केवल सुनने-भर के लिए नहीं है अपितु जीवन के हर अंग में सहर्ष उतारने के लिए है। उत्तारवाद मानव-जाति को पाप के फल से बचने की नहीं अपितु मूलतः पाप से ही बचने की प्रेरणा देता है और जीवन के ऊँचे आदर्शों के लिए जनता के हृदय में प्रखर, अमर, अनन्त सत्साहस की अखण्ड ज्योति जगा देता है।

—आलोक

●●

हाड़-मांस का चलता-फिरता पिंजरा नहीं है प्रत्युत वह अनन्त अनन्त शक्तियों का पुञ्ज है। वह देवताओं का भी देवता है स्वयं-सिद्ध ईश्वर है। परन्तु जब तक वह संसार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है, तब तक वह अन्धकार से घिरा हुआ सूर्य है अन्तत प्रकाश दे तो कैसे दे ? सूर्य को प्रकाश देने से पहले रात्रि के सघन अन्धकार को चीर कर बाहर आना ही होगा।

हाँ तो ज्यो ही मनुष्य अपने होश में आता है अपने वास्तविक आत्म-स्वरूप को पहचानता है पर-परिणति को त्याग कर स्व-परिणति को अपनाता है तो धीरे-धीरे निर्मल शुद्ध एवं स्वच्छ होता चला जाता है और एक दिन अनन्तानन्त जगमगाती हुई आध्यात्मिक शक्तियों का पुञ्ज बनकर शुद्ध बुद्ध परमात्मा अरिहन्त ब्रह्म तथा ईश्वर बन जाता है। श्रमण-संस्कृति में आत्मा की चरम शुद्ध दशा का नाम ही ईश्वर है परमात्मा है। इसके अतिरिक्त और कोई अनादि-सिद्ध ईश्वर नहीं है। "कर्म-बद्धो भवेज्जीव कर्म-मुक्त स्तथा जिनः।

यह है श्रमण-संस्कृति का उत्तरवाद जो मनुष्य को अपनी ही आत्म-साधना के बल पर ईश्वर होने के लिए ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा देता है। यह मनुष्य के अनादि काल से सोये हुए साहस को जगाता है विकसित करता है और उसे सत्कर्मों की ओर मोड़ता है किन्तु उसे पामर मनुष्य कहकर भंग नहीं करता। इस प्रकार श्रमण-संस्कृति मानव-जाति को सर्वोपरि विकास-बिन्दु की ओर अग्र सर होना सिखाती है।

श्रमण-संस्कृति का हजारों वर्षों से यह आक्षेप रहा है कि वह सर्वथा परोक्ष एवं अज्ञात ईश्वर मे बिल्कुल विश्वास नहीं रखती। इसके लिए उसे तिरस्कार अपमान लाञ्छना भर्त्सना और

वासनाओं से मुँह मोड़कर सत्पथ के पथिक बने और आत्म संयम की साधना में लगातार अनेक जन्म बिताकर अन्त में एक दिन वह मानव-जन्म प्राप्त किया कि जहाँ आत्म-साधना के विकास-स्वरूप अरिहन्त जिन एवं तीर्थङ्कर रूप में प्रकट हुए।

श्रमण-संस्कृति के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में आज भी उनके पतनोत्थान-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण अनुभव एवं धर्म-साधना के क्रमबद्ध चरण चिन्ह मिल रहे हैं जिन पर यथासाध्य चलकर हर कोई साधक अपना आत्म-कल्याण कर सकता है, अरिहन्त एवं जिन बन सकता है। राग-द्वेष विजेता अरिहन्तों के जीवन-सम्बन्धी उच्च आदर्श साधक-जीवन के लिए क्रमबद्ध अभ्युदय एवं निःश्रेयस के रेखा-चित्र उपस्थित करते हैं। अतएव श्रमण-संस्कृति का उत्तारवाद केवल सुनने-भर के लिए नहीं है अपितु जीवन के हर अंग में गहरा उतारने के लिए है। उत्तारवाद मानव-जाति को पाप के फल से बचने की नहीं अपितु मूलतः पाप से ही बचने की प्रेरणा देता है और जीवन के ऊँचे आदर्शों के लिए जनता के हृदय में उदार, अमर, अनन्त सत्साहस की प्रकाशमय ज्योति जगा देता है।

—दामोदर

●●

जैन-सस्कृति मे सेवा-भाव

जैन-सस्कृति की आधार-शिला प्रधानतया निवृत्ति है। अत उसमे त्याग, वैराग्य, तप और तितिक्षा आदि पर जितना अधिक बल दिया गया है, उतना और किसी नियम-विशेष या सिद्धान्त-विशेष पर नही। परन्तु जैन-धर्म की निवृत्ति, साधक को जन-सेवा की ओर अधिक-से-अधिक आकर्षित करने के लिए है। जैन-धर्म का आदर्श ही यह है कि प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे की सेवा करे, सहायता करे और जैसी भी अपनी योग्यता तथा शक्ति हो, उसी के अनुसार दूसरो के काम आए। जैन-धर्म मे जीवात्मा का लक्षण[1] ही समाजिक माना गया है, वैयक्तिक नही। प्रत्येक सासारिक प्राणी अपने सीमित व्यक्ति-रूप मे अपूर्ण है, उसकी पूर्णता आस-पास के समाज मे और सघ मे निहित है। यही कारण है कि जैन-सस्कृति का जितना अधिक झुकाव आध्यात्मिक साधना के प्रति है, उतना ही ग्राम, नगर और राष्ट्र के प्रति भी है। ग्राम, नगर और राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यो का जैन-साहित्य मे धर्म[2] का रूप दिया गया है। भगवान् महावीर ने अपने धर्म-प्रवचनो मे ग्राम-धर्म, नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। उन्होंने आध्यात्मिक क्रियाकाण्ड-प्रधान जैन-धर्म

---

१ परस्परोपग्रहो जीवानाम्—तत्त्वार्थाधिगम सूत्र ५, २१

२ स्थानाग सूत्र - दशम-स्थान

की साधना का स्थान ग्राम-धर्म नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म के बाद ही रखा है पहले नहीं। एक सभ्य नागरिक एवं राष्ट्र भक्त ही सच्चा जैन हो सकता है दूसरा नहीं। उक्त विवेचन के विद्यमान रहते यह कैसे कहा जा सकता है कि— 'जैन-धर्म एकान्त निवृत्ति प्रधान है अथवा उसका एकमात्र उद्देश्य परलोक ही है इहलोक नहीं।" जैन-धर्म उदार धर्म नहीं है अपितु नकद धर्म है। वह इस लोक और परलोक—दोनों को ही शानदार बनाने की सत्-प्रेरणा प्रदान करता है।

जैन-गृहस्थ जब प्रात उठता है तो वह तीन चीजों[1] का चिन्तन करता है। उनमे सबसे पहला यही संकल्प है कि—"मैं अपने धन का जन-समाज की सेवा के लिए कब त्याग करूँगा? वह दिन धन्य होगा जब मेरे संग्रह का उपयोग जन-समाज के लिए होगा दीन दुखियों के लिए होगा। भगवान् महावीर का यह आघोष हमारी निद्रा भंग करने के लिए पर्याप्त है कि— 'असंविभागी न हु तस्स मुक्खो।[2] अर्थात्—'मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने संग्रह के उपभोग का अधिकारी अपने आपको ही न समझे प्रत्युत अपने आस-पास के साथियो को भी अपने बराबर का अधिकारी माने। जो मनुष्य अपने साधनों का स्वयं ही उपभोग करता है उनमे से दूसरा की सेवा के लिए कुछ भी अर्पण नहीं करना चाहता वह अपने बन्धनों को तोड़कर कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

जैन धर्म म माने गए मूल आठ कर्मों में मोहनीय कर्म का स्थान बड़ा ही भयंकर है। आत्मा का जितना अधिक पतन मोह

१ स्थानांग सूत्र —३
२ दशवैकालिक सूत्र ९ २३

नीय कर्म के द्वारा होता है, उतना और किसी कर्म से नही। मोहनीय कर्म के सबसे अन्तिम उग्र रूप को महामोहनीय कहते हैं। उसके तीस भेदो मे से पच्चीसवॉ भेद[५] यह है कि—'यदि आपका साथी बीमार है या किसी घोर सकट मे पडा हुआ है, और आप उसकी सहायता या सेवा करने मे समर्थ है, फिर भी यदि आप सेवा न करे और यह विचार करे कि इसने कभी मेरा काम तो किया नही, मैं ही इसका काम क्यो करूँ? कष्ट पाता है, तो पाए अपनी बला से, मुझे क्या?' भगवान् महावीर ने अपने चम्पापुरी के धर्म-प्रवचन मे स्पष्ट ही इस सम्बन्ध मे कहा है कि—'जो मनुष्य इस प्रकार अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन होता है, वह धर्म मे सर्वथा पतित होता है। उक्त पाप का कारण वह सत्तर कोटि-कोटि सागर तक चिरकाल जन्म-मरण के चक्र मे उलझा रहेगा, सत्य के प्रति अभिमुख न हो सकेगा।'

गृहस्थ ही नही, साधु वर्ग को भी सेवा-धर्म का बडी कठोरता से पालन करना होता है। भगवान् महावीर ने कहा है कि—'यदि कोई साधु अपने बीमार या सकटापन्न साथी को छोडकर तपश्चरण करने लग जाता है, शास्त्र-चिन्तन मे सलग्न हो जाता है, तो वह अपराधी है, सघ मे रहने योग्य नही है। उसे एक-सौ बीस उपवासो का प्रायश्चित्त लेना पडेगा, अन्यथा उसकी शुद्धि नही हो सकती।' इतना ही नही, एक गाँव मे कोई साधु बीमार पडा हो और दूसरा साधु जानता हुआ भी गाँव से बाहर ही बाहर एक गाँव से दूसरे गाँव चला जाए, रोगी की सेवा के लिए गाँव मे न आए, तो वह भी महान् पापी है,[६] उग्र दड का अधिकारी।' भग-

---

५ दशाश्रुत स्कन्ध—नवम दशा

६ निशीथ सूत्र—उद्दे० ४

वान् महावीर का कहना है कि—'सेवा स्वयं एक बड़ा भारी तप है।'[७] अतः जब भी कभी सेवा करने का पवित्र अवसर मिले तो उसे छोड़ना नहीं चाहिए। सच्चा जैन वह है, जो सेवा करने के लिए सदा भातों की दीन-दुखियों की पतितों एवं दलितों की खोज में रहता है।

स्थानांग-सूत्र में भगवान् महावीर की आठ महाशिक्षाएँ बड़ी ही प्रसिद्ध हैं, उनमें पाँचवी शिक्षा यह है कि—'असंगिहीय परिजणस्स संगिण्हयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ।'[८] अर्थात्—'जो अनाश्रित है निराधार है कहीं भी जीवन-यापन के लिए उचित स्थान नहीं पा रहा है उसे तुम आश्रय दो सहारा दो उसकी जीवन-यात्रा के लिए यथोचित प्रबन्ध करो।' जैन-गृहस्थ का द्वार प्रत्येक असहाय के लिए खुला हुआ रहता है। वहाँ किसी जाति कुल देश या धर्म के भेद के बिना मानव-मात्र के लिए समान आदर भाव है आश्रय-स्थान है।

एक बात और भी बड़े महत्त्व की है। इस बात ने तो सेवा का स्थान बहुत ही ऊँचा कर दिया है। जैन-धर्म में सबसे बड़ा और ऊँचा पद तीर्थङ्कर माना गया है। तीर्थङ्कर होने का अर्थ यह है कि वह साधक समाज का पूजनीय महापुरुष देवाधिदेव बन जाता है। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर दोनों तीर्थङ्कर हैं। भगवान् ने अपने जीवन के अन्तिम प्रवचन में सेवा का महत्त्व बताते हुए कहा है कि—'वेयावच्चेणं तित्थयर-नाम

---

७ उत्तराध्ययन—तपोमार्ग अध्ययन
औपपातिक सूत्र—पीठिका
८ स्थानांग सूत्र—८ ६१
९ भगवती सूत्र—श २ उ ५

गोत्त कम्म निवन्धइ।'[११] अर्थात्—'वैयावृत्य करने से, सेवा करने से, तीर्थङ्कर पद की प्राप्ति होती है।' साधारण जन-समाज मे सेवा का आकर्षण पैदा करने के लिए भगवान् महावीर का यह उदात्त प्रवचन कितना महनीय है?

आचार्य कमल-सयम ने भगवान् महावीर और गौतम का एक बहुत सुन्दर सवाद हमारे सामने प्रस्तुत किया है। सवाद मे भगवान् महावीर ने दुखितो की सेवा को अपनी सेवा की अपेक्षा भी अधिक महत्व दिया है। सवाद का विस्तृत एव स्पष्ट रूपक इस प्रकार है —

श्री इन्द्रभूति गौतम ने – जो भगवान् महावीर के सबसे बडे गणधर थे, भगवान् से पूछा—"भगवन्! एक भक्त दिन-रात आपकी सेवा करता है, आपकी पूजा-अर्चना करता है। फलत उसे दूसरे दुखियो की सेवा के लिए अवकाश नही मिल पाता। दूसरा सज्जन दीन-दुखियो की सेवा करता है, सहायता करता है, जन-सेवा मे स्वयं को घुला-मिला देता है, जन-जीवन पर दया का वर्षण करता है। फलत उसे आपकी सेवा के लिए अवकाश नही मिल पाता। भन्ते! दोनो मे से आपकी ओर से धन्यवाद का पात्र कौन है, और दोनो मे कौन श्रेष्ठ है?"

भगवान् महावीर ने बडे रहस्य-भरे स्वर मे उत्तर दिया— "गौतम! जो दीन-दुखियो की सेवा करता है, वह श्रेष्ठ है, वही मेरे धन्यवाद का पात्र है और वही मेरा सच्चा पुजारी है।"[१२] गौतम विचार मे पड गए कि यह क्या? भगवान् की सेवा के सामने अपने ही दुष्कर्मों से दुखित पापात्माओ की सेवा का क्या

---

११ उत्तराध्ययन सूत्र—२६, ४३

१२ वही—सर्वार्थ-सिद्धि, परीषह अध्ययन

महत्त्व ? धन्यवाद तो भगवान् के सेवक को मिलना चाहिए। गौतम ने जिज्ञासा भरे स्वर से पूछा— 'भन्ते ! बात कुछ मन में नहीं उतरी। दुःखितों की सेवा की अपेक्षा तो आपकी सेवा का अधिक महत्त्व होना चाहिए। कहाँ तीन लोक के नाथ-पवित्रात्मा आप और कहाँ संसार के वे पामर प्राणी जो अपने ही कृत-कर्मों का फल भोग रहे हैं!

भगवान् ने उत्तर दिया— 'गौतम ! मेरी सेवा मेरी आज्ञा के पालन करने में ही तो है। इसके अतिरिक्त अपनी व्यक्तिगत सेवा के लिए तो मेरे पास कोई स्थान ही नहीं है। मेरी सबसे बड़ी आज्ञा यही है कि दुःखित जन-समाज की सेवा की जाए, उसे सुख-शान्ति पहुँचाई जाए। प्राणी मात्र पर दया-भाव रखा जाए। अतः दुःखियों की सेवा करने वाला मेरी आज्ञा का पालक है। गौतम इसलिये मैं कहता हूँ कि दुःखियों की सेवा करने वाला ही धन्य है—श्रेष्ठ है मेरी निजी सेवा करने वाला नहीं। मेरा निजी सेवक सिद्धान्त की अपेक्षा व्यक्तिगत मोह में अधिक उलझा हुआ है।

यह भव्य आदर्श है—नर-सेवा में नारायण-सेवा का, जन सेवा में भगवान् की सेवा का। जैन-संस्कृति के अन्तिम प्रकाशमान सूर्य भगवान् महावीर है उनका यह प्रवचन सेवा के महत्त्व के लिए सबसे बड़ा ज्वलन्त प्रमाण है।

भगवान् महावीर दीक्षित होना चाहते हैं किन्तु अपनी सम्पत्ति का गरीब प्रजा के हित के लिए दान करते हैं और एक वर्ष तक मुनि-दीक्षा लेने के विचार को लम्बा कर देते हैं। एक वर्ष में अर्थों की सम्पत्ति जन-सेवा के लिए अर्पित करना अपना प्रथम कर्तव्य समझते हैं और मानव जाति की आध्यात्मिक उन्नति

करने से पहले उसकी भौतिक उन्नति करने में संलग्न रहते हैं।[13] दीक्षा लेने के पश्चात् भी उनके हृदय में दया का असीम पारावार तरंगित रहता है, फलस्वरूप वे एक गरीब ब्राह्मण के दुःख से दयार्द्र हो उठते हैं, और उसे अपना एक-मात्र प्रावरण-वस्त्र भी दे डालते हैं।[14]

जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त भी सेवा के क्षेत्र में पीछे नहीं रहे हैं। उनके प्रजा-हित के कार्य सर्वत सुप्रसिद्ध हैं। सम्राट् सम्प्रति की सेवा भी कुछ कम नहीं है। जैन-इतिहास का साधारण-से-साधारण विद्यार्थी भी जान सकता है कि सम्राट् के हृदय में जन-सेवा की भावना किस प्रकार कूट-कूटकर भरी हुई थी, और किस प्रकार उन्होंने उसे कार्य-रूप में परिणत कर जैन-संस्कृति के गौरव को अक्षुण्ण रखा था। महाराजा कलिंग-चक्रवर्ती खारवेल और गुर्जर नरेश कुमारपाल भी सेवा के क्षेत्र में जैन-संस्कृति की मर्यादा को बराबर सुरक्षित रखते हैं। मध्य-काल में जगड़ूशाह, पेथड और भामाशाह जैसे धन-कुबेर भी, जन-समाज के कल्याण के लिए अपने सर्वस्व की आहुति दे डालते हैं, और स्वयं बरसने के बाद रिक्त बादल की-सी स्थिति में हो जाते हैं।

जैन-समाज ने जन-समाज की क्या सेवा की है? इसके लिए सुदूर इतिहास को अलग रहने दीजिए और केवल गुजरात, मारवाड़, मेवाड़ या कर्नाटक आदि प्रान्तों का एक बार भ्रमण कर जाइए, इधर-उधर खण्डहरों के रूप में पड़े हुए ईंट-पत्थरों पर नजर डालिए, पहाड़ों की चट्टानों पर के शिलालेख पढ़िए, जहाँ-तहाँ देहात में फैले हुए जन-प्रवाद सुनिए—आपको मालूम हो

१३ आचारांग—महावीर-जीवन

१४ महावीर-चरित्र—आचार्य हेमचन्द्र कृत

जाएगा कि जैन-संस्कृति क्या है ? उसके साथ जन-सेवा का कितना अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है ? जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ संस्कृति व्यक्ति की नहीं होती समाज की होती है और समाज की संस्कृति का यह अर्थ है कि समाज अधिक-से-अधिक सेवा की भावना से ओत-प्रोत हो उसमें द्वेष नहीं—प्रेम हो द्वैत नहीं—अद्वैत हो एक रंग-ढंग हो एक रहन-सहन हो एक परिवार हो। संस्कृति का यह विश्वास आदर्श जैन-संस्कृति में पूर्णतया घटित हो रहा है। इसके लिए जैन-धर्म का गौरव-पूर्ण उज्ज्वल अतीत पूर्ण-रूपेण साक्षी है।

अस्तु, मैं आशा करता हूँ, आज का पिछड़ा जैन-समाज भी अपने महान् अतीत के गौरव की रक्षा करेगा और भारत की वर्तमान विकट परिस्थिति में बिना किसी जाति धर्म कुल या देश के भेद-भाव के दरिद्र-नारायण की सेवा में अग्रगामी बनेगा और जन-सेवा को ही भगवान् की सच्ची उपासना समझेगा।

—विश्व-भारती

आगम-साहित्य

प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे जैन आगम-साहित्य का अपना एक विशिष्ट एव महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह स्थूल अक्षर देह से जितना विराट् एव विशाल है, उतना ही, अपितु उससे कही अधिक सूक्ष्म अन्तर विचार-चेतना से महान् है, महत्तर है। भारतीय चिन्तन-क्षेत्र मे जैन आगम-साहित्य को यदि कुछ क्षण के लिए एक किनारे कर दिया जाए, तो भारतीय चिन्तन की चमक कम हो जाएगी और वह एक प्रकार से धुँधला-सा मालूम पडेगा। इसका एक कारण है। जैन आगम-साहित्य केवल कल्पना की उडान नही है, केवल बौद्धिक विलास नही है, केवल मत-मतान्तरो के खण्डन-मण्डन का तर्क-जाल नही है, वह है ज्ञान-सागर के मन्थन से समुद्भूत जीवन-स्पर्शी अमृत-रस। इसकी पृष्ठ-भूमि मे त्याग-वैराग्य का अखण्ड तेज चमकता है, आत्म-साधना का अमर स्वर गूँजता है और मानवीय सद्गुणो के प्रतिष्ठान की मोहक सुगन्ध महकती है।

आगम दर्शन-शास्त्र ही नही, साधना-शास्त्र भी है। जैन-आगमो के पुरस्कर्त्ता मात्र दार्शनिक ही नही, साधक भी रहे हैं। उन्होंने अपने जीवन का एक बहुत बडा भाग साधना मे गुजारा है। अपने अन्तर्मन को साधना की अग्नि मे तपाया है, उसे निर्मल बनाया है। क्या आस्रव है, क्या सवर है, क्या ससार है, क्या

मोता है—यह सब जाँचा है परखा है। अहिंसा और सत्य के विचारों को आचार के रूप में उतारा है और प्रस्तुत आत्मा में परमात्म भाव के अनन्त ऐश्वर्य का साक्षात्कार किया है। यही कारण है कि आगम-साहित्य में साधना के क्रमबद्ध चरण-चिन्ह मिलते हैं। यह ठीक है कि प्राचीन वैदिक साहित्य भी भारतीय जन-जीवन की दिव्य झाँकी प्रस्तुत करता है। परन्तु वेद और ब्राह्मण आध्यात्मिक चिन्तन की अपेक्षा देव-स्तुति परायण म न है उनमें आत्म-चिन्तन की अपेक्षा लोक-चिन्तन का स्वर अधिक मुखर है। उपनिषद् आध्यात्मिक चिन्तन की ओर अग्रसर अवश्य हुए हैं किन्तु वे भी आत्म-साधना का कोई खास वैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित नहीं कर पाए। उपनिषदों का ब्रह्मवाद और आत्म-चिन्तन दार्शनिक चर्चा के लौह आवरण में ही आबद्ध र ता है वह सर्व-साधारण जनता को आत्म-निर्माण को कला का कोई विशिष्ट क्रम-परखा व्यवहार-सिद्ध मार्ग नहीं बतलाता। किन्तु आगम-साहित्य इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट है। वह जितनी ऊँचाई पर साधना का विचार-पक्ष प्रस्तुत करता है उतनी ही ऊँचाई पर उसका आचार-पक्ष भी उपस्थित करता है। आगम-साहित्य बतलाता है—साधक कैसे चले कैसे खड़ा हो कैसे बैठे कैसे सोए कैसे खाए, कैसे बोले कैसे जीवन की दैनिक चर्या का अनुगमन करे—जिससे कि आत्मा पाप-कर्म से लिप्त न हो भव भ्रमण में भ्रान्त न हो। यह बात अन्यत्र दुर्लभ है। दर्शन और जीवन का विचार और आचार का भावना और कर्तव्य का यदि किसी को सब सुन्दर एवं साथ ही वैज्ञानिक समन्वय देखना हो तो वह जैन-आगमों में देख सकता है।

छेद-सूत्रों की परम्परा आगम-साहित्य में छेद-सूत्रों का स्थान और भी महत्त्वपूर्ण है। भिक्षु जीवन की साधना का सर्वांगीण

विवेचन छेद-सूत्रो मे ही उपलब्ध होता है । साधक आखिर साधक है । उसकी कुछ मर्यादा है । वह सावधानी रखता हुआ भी कभी असावधान हो सकता है, कभी-कभी क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है—इसका ठीक-ठीक निर्णय नही हो पाता, कभी-कभी कर्मोदय के प्राबल्य से जानता हुआ भी मर्यादाहीन आचरण से अपने को पराड् मुख नही कर सकता, कभी-कभी धर्म और सघ की रक्षा के प्रश्न भी शास्त्रीय विधि-निषेध की सीमा को लाँघ जाने के लिए विवश कर देते है—आदि कुछ ऐसी स्थितयाँ है, जिनमे उलझने पर साधक को पुन सभलने के लिए प्रकाश चाहिए। यह प्रकाश छेद सूत्रो के द्वारा ही मिल सकता है। छेद का अर्थ है—जीवन मे से असयम के अश को को काटकर अलग कर देना, साधना मे से ऐसे दोष-जन्य अशुद्धता के मल को धोकर साफ कर देना। और जो शास्त्र भूलो से बचने के लिए पहले सावधान करते है, भूल हो जाने र पुन सावधान करते है, तथा भूलो के परिमार्जन के लिए यथावसर उचित निर्देश देते है, वे छेद-शास्त्र कहलाते है। भिक्षु-जीवन की समग्त आचार-सहिता का रस-परिपाक छेद-सूत्रो मे ही हुआ है।

यही कारण है कि छेद-सूत्रो का गम्भीर अध्ययन किए विना कोई भी भिक्षु अपना स्वतन्त्र सघाटा (भिक्षु समुदाय) लेकर ग्रामानुग्राम विचरण नही कर सकता, गीतार्थ नही बन सकता, आचार्य और उपाध्याय जैसे उच्च पदो का अधिकारी नही हो सकता । यदि कोई आचार्य बनने के बाद छेद-सूत्रो को भूल जाता है और पुन उनको उपस्थित नही कर पाता है, तो वह आचार्य पद पर प्रतिष्ठित नही रह सकता है। छेद-सूत्रो के ज्ञानाभाव मे श्रमण-सघ का नेतृत्व नही किया जा सकता, और न वह हो ही सकता

है। फिर तो 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' की उक्ति चरितार्थ होती है। भला जो स्वयं अन्धा है वह दूसरे अन्धों का पथ-प्रदर्शक कैसे हो सकता है?

भाष्य और चूर्णियाँ—छेद-सूत्र बहुत संक्षिप्त शैली से लिखे गए हैं। जितना उनका अर्थ-शरीर विराट् है उतना ही उनका शब्द शरीर लघुतम है। थोड़े-से इने-गिने शब्दों में विशाल अर्थों की योजना इस खूबी से की गई है कि सहसा आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। जब हम छेद-सूत्रों के भाष्य और उनकी चूर्णियों को पढ़ते हैं तो ऐसा लगता है मानो सूत्रीय शब्द-बिन्दु में अर्थ-सिन्धु समाया हुआ है। एक-एक सूत्र पर उसके एक-एक शब्द पर इतना विस्तृत ऊहापोह किया गया है इतना चिन्तन-मनन किया गया है कि ज्ञान की गंगा-सी बह जाती है। साधुता का इतना सूक्ष्म विश्लेषण जीवन के उतार-चढ़ाव का इतना स्पष्ट चित्र अन्यत्र दुर्लभ है दुष्प्राप्य है। एक प्राचीन संस्कृत कवि के शब्दों में यही कहना होता है कि—'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।' साधना के सम्बन्ध में जो यहाँ है वह अन्यत्र भी है और जो यहाँ नहीं वह अन्यत्र भी कहीं नहीं। एक मात्र धार्मिक जीवन ही नहीं तत्कालीन भारत का प्राचीन सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का सच्चा इतिहास भी भाष्य और चूर्णियों के अध्ययन से ही जाना जा सकता है। यही कारण है कि आज के तटस्थ शोधक समाज शास्त्री विद्वान्, अपने शोधन-ग्रन्थों के लिए अधिकतम विचार-सामग्री भाष्यों और चूर्णियों पर से ही प्राप्त कर सकते हैं। मैं स्वयं भी अपने यथा-श्रद्धा किए गए क्षुद्र अध्ययन के आधार पर कह सकता हूँ कि भाष्यों और चूर्णियों के अध्ययन के बिना न तो हम प्राचीन साधु-समाज का जीवन समझ सकते हैं और न गृहस्थ-समाज का ही। और प्राचीन का ठीक-ठीक अध्ययन किए

विना, न वर्तमान ही समझ मे आ सकता है और न भविष्य ही। ससार की सघर्ष भूमिका मे अलग-थलग रहने वाले भिक्षु-समाज के जीवन मे भी भला-बुरा परिवर्तन कब आता है, क्यो आता है, और वह क्यो आवश्यक हो जाता है?—इन सब प्रश्नो का उत्तर हम छेद-सूत्रो पर के विस्तृत भाष्यो तथा चूर्णियो से ही प्राप्त कर सकते है। इतना ही नही, छेद-सूत्रो का अपना स्वय का मूल ग्रन्थ भी भाष्य और चूर्णि के विना यथावत समझ मे नही आ सकता। यदि कोई भाष्य और चूर्णि को अवलोकन किए विना छेद-सूत्रगत मूल रहस्यो को जान लेने का दावा करता है, तो मैं कहूँगा, क्या तो वह भ्रान्ति मे है या दम्भ मे है। दूसरो की वात छोड भी दूँ, किन्तु मैं अपनी वात तो सच्चाई के साथ कह सकता हूँ कि मूल, केवल मूल के रूप मे, कम से कम मेरी समझ मे तो नही आया। भाष्यो और चूर्णियो का अध्ययन करने पर ही पता चला है कि वस्तुत छेद-सूत्र क्या हैं? उनका गुरु-गम्भीर मर्म क्या है? उत्सर्ग और अपवाद क्या है? अपवाद मे मार्गत्व क्या है और वह क्यो है?

निशीथ भाष्य तथा चूर्णि—छेद-सूत्रो मे निशीथ-सूत्र का स्थान सर्वोपरि है। वह आचाराग सूत्र का ही एक भाग माना जाता है। आचाराग सूत्र के दो श्रुत-स्कन्ध है। प्रथम श्रुत-स्कन्ध नव अध्ययनो मे विभक्त है। द्वितीय श्रुत-स्कन्ध की पाँच चूला है। प्रस्तुत निशीथ-सूत्र पाँचवी चूला है। अतएव निशीथ-पीठिका मे कहा है—'एताहि पचहि चूलाहि सहितो आयारो।' चौथी चूला तक का भाग आचाराग कहा जाता है, और पाँचवी चूला निशीथ के रूप मे अपना स्वतत्र अस्तित्व रखती है। किन्तु है वह मूल रूप मे आचाराग सूत्र का ही एक अंग। इसीलिए निशीथ-सूत्र को यत्र-तत्र 'निशीथ-चूला-अध्ययन' कहा गया है। और निशीथ-

सूत्र का एक और नाम जो 'आचार-प्रकल्प' है उसके मूल में यही भावना अन्तर्निहित है।

आचारांग-सूत्र भिक्षु की आचार-संहिता है। उसमें विस्तार के साथ बताया गया है कि भिक्षु को कैसे रहना चाहिए, कैसे खाना चाहिए, कैसे पीना चाहिए, कैसे चलना चाहिए, कैसे बोलना चाहिए आदि आदि। निशीथ सूत्र में आचारांग-निर्दिष्ट आचार स्खलना होने पर कब कैसा क्या प्रायश्चित्त लेना चाहिए, यह बताया गया है। अतएव निशीथ-सूत्र आचारांग का, जैसा कि इसका नाम सूचित है, अन्तिम पाँचवाँ हिस्सा है। आचारांग सूत्र के अध्ययन की पूर्णाहुति निशीथ-सूत्र के अध्ययन में ही होती है, पहले नहीं।

निशीथ सूत्र मूल पर नियुक्ति है, मूल और नियुक्ति पर भाष्य है और इन सब पर चूर्णि है। निशीथ-सूत्र मूल नियुक्ति भाष्य और चूर्णि के कर्ता कौन महान् श्रुत-धर हैं, इसकी चर्चा अन्यत्र किसी लेख में करने का विचार है। प्रस्तुत प्रथम खण्ड में हम केवल यही कहना चाहते हैं कि—निशीथ-सूत्र जैसे महान् हैं वैसे ही उसके भाष्य और चूर्णि भी महान् हैं। मूल-सूत्र का मर्मोद्घाटन भाष्य और चूर्णि में यत्र-तत्र इतनी सुन्दर एवं विश्लेषणात्मक पद्धति से किया गया है कि हृदय सहसा गद्गद् हो जाता है। आज की सर्वथा आधुनिक कही जाने वाली विमर्श पद्धति के दर्शन हम उस प्राचीन काल में भी मिलते हैं, जब कि साहित्य-सामग्री आज के समान सर्व-सुलभ नहीं थी।

—निशीथ भाष्य भूमिका

उत्सर्ग और अपवाद

जैनधर्म की साधना मनोजय की साधना है। वीतरागभाषित पन्थ मे साधना का लक्ष्य है—मनोगत विकारो को जीतना। 'मनोविजेता जगतो विजेता—यह जैनधर्म की साधना का मुख्य सूत्र है। जैनधर्म की साधना-विधिवाद के अतिरेक और निषेधवाद के अतिरेक का परित्याग करके दोनो कूलो के मध्य मे होकर बहने वाली सरिता के तुल्य है। सरिता के प्रवाह के लिए, सरिता के विकास के लिए, सरिता के जीवन के लिए—दोनो कूल आवश्यक है। एक कूल वाली सरिता, सरिता नही कही जा सकती। जीवन-सरिता की भी यही दशा है। एक ओर विधिवाद का अतिरेक है, दूसरी ओर निषेधवाद का अतिरेक है-दोनो के मध्य मे होकर प्रवाहित होती है—जीवन-सरिता। जीवन-सरिता के प्रवाह को, जीवन-सरिता के विकास को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए दोनो अतिरेको का त्याग आवश्यक है। अति-विधिवाद और अति-निषेधवाद से बचकर चलने वाली जीवन-सरिता ही अपने अनन्त लक्ष्य मे विलीन हो सकती है।

साधना की सीमा मे सप्रवेश पाते ही साधना के दो अगो पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है-"उत्सर्ग तथा अपवाद।" साधना के ये दोनो अग प्राण हैं। इनमे से एक तर का भी अभाव हो जाने पर साधना अधूरी है, विकृत है, एकागी है, एकान्त है। जीवन मे

एकान्त कभी कल्याणकर हो नहीं सकता क्योंकि वीतराग देव-संस्तुत्य पथ में एकान्त मिथ्या है, अहित है, अशुभंकर है। मनुष्य द्विपद है। वह अपनी यात्रा अपने दोनों पादों से ही भली भाँति कर सकता है। एक पद का मनुष्य लंगड़ा होता है। ठीक साधना भी अपने दो पदों से ही सम्यक् प्रकार से गति कर सकती है। उत्सर्ग और अपवाद—साधना के ये दो चरण हैं। इनमें से एकतर चरण का अभाव यह सूचित करेगा कि साधना पूरी नहीं, अधूरी है। साधना के जीवन-विकास के लिए उत्सर्ग और अपवाद आवश्यक ही नहीं, अपितु अपरिहार्य भी है। साधक की साधना के महापथ पर जीवन रथ को गतिशील एवं विकासोन्मुख रखने के लिए उत्सर्ग और अपवाद रूप—दोनों चक्र सशक्त तथा सक्रिय रहने चाहिए, तभी साधक अपनी साधना में अनन्त साध्य की सिद्धि कर पाता है।

कुछेक विचारक जीवन में उत्सर्ग को ही पकड़ कर चलना चाहते हैं। वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति उत्सर्ग से चिपट कर ही खर्च कर देने पर तुले हुए हैं। वे जीवन में अपवाद का सर्वथा अपलाप ही करते रहते हैं। उनकी दृष्टि में (एकांगी दृष्टि में) अपवाद धर्म नहीं, एक महत्तर पाप है। इस प्रकार के विचारक साधना के क्षेत्र में उस काणी हथिनी के समान हैं जो चलते समय मार्ग के एक भाग को ही देख पाती है। दूसरी ओर कुछ साधक वे हैं जो उत्सर्ग को भूलकर केवल अपवाद को पकड़ कर ही चलना चाहते हैं। जीवन-पथ में वे कदम-कदम पर अपवाद का सहारा लेकर ही चलना है। जैसे—शिशु बिना किसी सहारे के चल ही नहीं सकता। ये दोनों विचार एकांगी होने से उपादेय कोटि में नहीं आ सकते। जैन धर्म की साधना एकान्त की नहीं, वह अनेकान्त की सुन्दर और स्वस्थ साधना है।

जैन-संस्कृति के महान् उन्नायक आचार्य श्रीहरिभद्र सूरि ने अपने "उपदेश-पद" ग्रन्थ में एकान्त पक्ष को लेकर चलने वाले साधकों को सबोधित करते हुए स्पष्ट शब्दो मे कहा है—"भगवान् जिनेश्वर देव ने न किसी वस्तु के लेने का एकान्त विधान किया है और न किसी वस्तु के छोडने का एकान्त निषेध ही किया है। भगवान् तीर्थंकर की एक ही आज्ञा है, एक ही आदेश है कि जो कुछ भी कार्य तुम कर रहे हो, उसमे सत्य भूत होकर रहो, उसे वफादारी के साथ करते रहो।"[1]

आचार्य ने जीवन का महान् रहस्य खोलकर रख दिया है। साधक का जीवन न एकान्त निषेध पर चल सकता है और न एकान्त विधान पर ही। कभी कुछ लेकर और कभी कुछ छोड कर ही वह अपना विकास कर सकता है। एकान्त का परित्याग करके वह अपनी साधना को निर्दोष बना सकता है।

साधक का जीवन एक प्रवहणशील तत्त्व है। उसे बाँधकर रखना भूल होगी। नदी के सातत्य प्रवहणशील वेग को किसी गर्त मे बाँधकर रख छोडने का अर्थ होगा—उसमे दुर्गंध पैदा करना तथा उसकी सहज स्वच्छता एव पवित्रता को नष्ट कर डालना। जीवन-वेग को एकान्त उत्सर्ग मे बन्द करना, यह भी भूल है और उसे एकान्त अपवाद मे कैद करना, यह भी चूक है। जीवन की गति को किसी भी एकान्त पक्ष मे बाधकर रखना हितकर नहीं। जीवन-वेग को बाधकर रखने मे क्या हानि है? बाँधकर रखने मे, सयत करके रखने मे तो कोई हानि नही है, परन्तु एकान्त

---

१ "न वि किंचि वि अणुन्नायं, पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं।
[illegible], कज्जे सच्चेण होयव्वं ॥

—उपदेशपद

विधान और एकान्त निषेध में बाँध रखने में जो हानि है, वह आचार्य-प्रवर हरिभद्र सूरि के शब्दों में ही सुनिए—

"देश काल और रोग के कारण साधक जीवन में कभी ऐसी अवस्था आ जाती है कि अकार्य कार्य बन जाता है तथा कार्य अकार्य हो जाता है। जो विधान है उसे निषेध कोटि में ले जाना पड़ता है और जो निषेध है उसे विधान बनाना पड़ता है।"[1]

यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि उत्सर्ग और अपवाद—दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, साधक हैं। बाधक और घातक नहीं हैं। दोनों के सुमेल से साधक का मार्ग प्रशस्त होता है। एक ही रोग में जिस प्रकार वैद्य को किसी वस्तु को अपथ्य कह कर निषेध करना पड़ता है, देश और काल की परिस्थिति वशात् उसी रोग में उस निषिद्ध पथ्य का विधान भी करना पड़ता है। परिस्थिति वश जिस अपथ्य का निषेध किया था, फिर उसी का कभी परिस्थिति में विधान भी देखा जाता है, परन्तु इस विधि और निषेध दोनों का लक्ष्य एक ही है—रोग का उपशमन, रोग का उन्मूलन करना। उदाहरण के लिए आयुर्वेद में यह विधान है कि—ज्वर रोग में लंघन अर्थात् भोजन का परित्याग हितावह एवं स्वास्थ्य के अनुकूल रहता है, परन्तु श्रम, क्लेश, शोक और काम ज्वर होने पर लंघन से हानि होती है। भोजन का त्याग एक स्थान पर अमृत है, हितकर है और दूसरे स्थान पर विष है, अहितकर है।

---

1 उत्पद्यते हि सावस्था देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्, कर्म कार्यं च वर्जयेत्॥
वातप्रियोगेऽविनिर्दिष्ट ज्वरार्थी लङ्घनं हितम्।
हुतर्जितमपथ्येन नोदकामशूलजन्मनाम्॥

इसी प्रकार उत्सर्ग और अपवाद—दोनों का एक ही लक्ष्य होता है—जीवन की संशुद्धि। उत्सर्ग अपवाद का पोषक होता है और अपवाद उत्सर्ग का सहायक। दोनों के सुमेल से चारित्र की संशुद्धि और पुष्टि होती है। उत्सर्ग मार्ग पर चलना, यह जीवन की सामान्य पद्धति है और अपवाद मार्ग पर चलना, यह जीवन की विशेष पद्धति है। ठीक वैसे ही जैसे कि राजमार्ग पर चलने वाला यात्री कभी राजमार्ग का परित्याग करके समीप की पगडंडी भी पकड़ लेता है, परन्तु फिर वह उसी राजमार्ग पर आ जाता है। परिस्थितिवश उसे ऐसा करना पड़ा था। यही बात उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के सम्बन्ध में लागू पड़ती है।

जीने की जो सामान्य विधि है वह उत्सर्ग है और जो विशेष विधि है वह अपवाद है।

भोजन करना यह जीवन की सामान्य विधि है क्योंकि बिना भोजन के जीवन टिक नहीं सकता परन्तु अजीर्ण हो जाने पर भोजन का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। भोजन का त्याग ही जीवन हो जाता है—यह विशेष विधि है। यह बात भूलना नहीं चाहिए कि विशेष विधि सामान्य विधि की रक्षा के लिए ही होती है। अपवाद भी उत्सर्ग मार्ग की रक्षा के लिए ही अंगीकार किया जाता है।

शिष्य फिर प्रश्न उपस्थित करता है—"भंते! उत्सर्ग को छोड़कर अपवाद मार्ग में जाने वाले साधक के क्या स्वीकृत व्रत भंग नहीं हो जाते? आचार्य एक रूपक के द्वारा इसका सुन्दर समाधान करते हैं—

एक यात्री त्वरित गति से पाटलीपुत्र नगर की ओर चला। वह यथाशक्ति चलता रहा क्योंकि शीघ्र पहुँचना उसे अभीष्ट था परन्तु थकान होने पर वह विश्राम करने लग जाता है जिससे विलम्ब हो गया। वह यात्री मार्ग में यदि विश्राम न करे तो स्वस्थ नहीं रह सकता। फिर अपने लक्ष्य पर कैसे पहुँचता? बृहत्कल्पभाष्य का यह रूपक साधक जीवन पर कितना सुन्दर घटित होता है।

साधक प्रथम उत्सर्ग मार्ग पर चलता है और उसे यथाशक्ति उत्सर्ग मार्ग पर चलना ही चाहिए, परन्तु उसे कारणवशात् अप-

---

१ जायन्तो उज्जाणो पच्छन्नु कि न पच्छार जमेत्तं।
कि वा मज्झे विसमिज्जा करेइ पकारमो निसढ" ॥१२॥
—बृहत्कल्पभाष्य पीठिका

वाद मार्ग पर आना पडे तो यह उसका विश्राम होगा। यह इस-लिए किया जाता है कि फिर वह अपने स्वीकृत पथ पर द्विगुणित वेग के साथ आगे बढ सकता है, अपने ठीक लक्ष्य पर जा सकता है। उसका विश्राम करना, बैठना भी चलने के लिए होता है। उसका अपवाद भी उसके उत्सर्ग की रक्षा के लिए ही होता है

शिष्य प्रश्न करता है —'भंते ! उत्सर्ग अधिक है या कि अपवाद अधिक है ?" शिष्य के प्रस्तुत प्रश्न का बृहत्कल्पभाष्य मे यह समाधान किया है—

"वत्स ! उत्सर्ग और अपवादो की सख्या मे भेद नही है। जितने उत्सग होते है, उसके उतने ही अपवाद भी होते है और जितने अपवाद होते है, उसके उतने ही उत्सर्ग भी होते है।"[1]

इससे सिद्ध होता है कि साधना के उत्सर्ग और अपवाद अपरिहार्य अंग है।

शिष्य प्रश्न करता है—भंते ! उत्सर्ग और अपवाद—इन दोनो मे कौन बलवान है और कौन दुर्बल ?" इसका समाधान भी बृहत्-कल्पभाष्य मे दिया गया है—

"वत्स ! उत्सर्ग अपने स्थान पर श्रेयान् और बलवान है। अपवाद अपने स्थान पर श्रेयान् एव बलवान् है। उत्सर्ग के स्थान पर अपवाद दुर्बल है और अपवाद के स्थान पर उत्सर्ग दुर्बल है।"[2]

शिष्य जिज्ञासा प्रस्तुत करता है— "भंते ! उत्सर्ग और अपवाद में साधक के लिए स्व-स्थान कौन-सा है ? और पर-स्थान कौन-सा है ?" इस जिज्ञासा का समाधान बृहत्कल्पभाष्य में इस प्रकार किया गया है—

"वत्स ! जो साधक स्वस्थ और समर्थ है उसके लिए उत्सर्ग स्व-स्थान है और अपवाद पर-स्थान है। किन्तु जो अस्वस्थ एवं असमर्थ है उसके लिए अपवाद स्व-स्थान है और उत्सर्ग पर-स्थान है।"

देश, काल और परिस्थितिवशात् उत्सर्ग और अपवाद के स्व-स्थान और पर-स्थान होते रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि साधक के जीवन में उत्सर्ग और अपवाद—दोनों का समान भाव से परिस्थिति-वश ग्रहण किया जाना चाहिए।

जैन-धर्म की साधना न अति परिणामवाद को लेकर चलती है—न अपरिणामवाद को लेकर। वह तो परिणामवाद को लेकर ही चलती है। जो साधक परिणामी है वही उत्सर्ग और अपवाद के मार्ग को भली भाँति समझ सकता है। अति परिणामी और अपरिणामी उत्सर्ग-अपवाद को समझने में असमर्थ रहता है। इस सम्बन्ध में व्यवहार भाष्य में एक बड़ा ही सुन्दर रूपक आता है—

एक आचार्य के तीन शिष्य थे। अपना पद भार किसको दें ? शिष्यों की परीक्षा के विचार से आचार्य एक-एक शिष्य को बुला

सपरत्था नाण उस्सग्गो अववाओ परट्ठाण ।
इय सन्ताण पर का न होइ वत्थु विना तेहि ॥ ३२४ ॥

—बृहत्कल्पभाष्य पीठिका

कर कहते हैं—"मुझे आम्र लाकर दो।" अतिपरिणामी साथ में दूसरी भी चीजें लाने को कहता है। अपरिणामी कहता है—"आम्र कल्पता नहीं, मैं कैसे लाकर दूँ?" परिणामी कहता है—"भंते! आम्र कितने जितने प्रकार के हैं? कौन-सा प्रकार और कितने लाऊँ?" आचार्य की परीक्षा में परिणामवादी उत्तीर्ण हो जाता है, क्योंकि वह उत्सर्ग और अपवाद के मार्ग को भली-भांति जानता है। वह गुरु की हीनता भी नहीं करता और अतिपरिणामी की तरह एक वस्तु मँगाने पर अनेक वस्तु लाने को भी नहीं कहता। परिणामवादी ही जैन साधना का समुज्ज्वल प्रतीक है, क्योंकि वह समय पर देश, काल और परिस्थिति के अनुसार अपने जीवन का टार करता है।

वर्षा बरसते समय भिक्षु अपने उपाश्रय से बाहर नहीं निकलता क्योंकि त्रसीय जीवों की विराधना होती है हिंसा होती है—भिक्षु का यह उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु साथ में इसका यह अपवाद भी कि चाहे वर्षा बरस रही है तो भी भिक्षु शौच और पेशाब करने बाहर जा सकता है। कच्चे जल की जहाँ स्पर्श मात्र की भी आज्ञा नहीं वहाँ यह आज्ञा अपवाद मार्ग है।

भिक्षु का यह उत्सर्ग मार्ग है कि वह मनसा वाचा कायेन किसी भी प्रकार के जीव की हिंसा न करे। क्यों नहीं करे? इसके समाधान में दशवैकालिक सूत्र में भगवान् ने कहा है—'जगती तल के समग्र जीव जन्तु जीवित रहना चाहते हैं मरना कोई नहीं चाहता क्योंकि सब को अपना जीवन प्रिय है। प्राणीवध घोर पाप है इसलिए निर्ग्रन्थ भिक्षु इस घोर पाप का परित्याग करते हैं।'[2]

इसका अपवाद भी होता है। आचारांग में कहा गया है कि— 'एक भिक्षु जो कि अन्य मार्ग न होने पर विषम पथ से जा रहा है यदि वह गिरने लगे पड़ने लगे तो अपने प्राण को गिरने से बचाने के लिए तरु को गुच्छ को गुल्म को लता को वल्ली को तथा तृण हरित आदि को पकड़ कर संभल जाए और फिर अपने मार्ग पर चढ़ जाए या ऊपर से नीचे उतर जाए।'[3]

सन्नमुच्च न चारए। —द. वै. अ. ५, गाथा ११।

२ सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं॥
—द. वै. अ. ६ गा. ११

३ से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा रुक्खाणि वा गुच्छाणि वा गुम्माणि वा लयाओ वा वल्लीओ वा तणाणि वा हरियाणि वा अवलंबिय अवलंबिय उत्तरिज्जा।
आचारांग श्रुत. ईर्याध्ययन उद्देश २

भिक्षु का उत्सर्ग मार्ग तो यह है कि वह किसी भी प्रकार की हिंसा न करे। परन्तु हरित वनस्पति को पकड कर चढने या उतरने मे कितनी हिंसा होती है? जीवो की कितनी विराधना होती है? इसी प्रकार भिक्षु को नदी पार करने का विधान भी आया है। यहाँ पर उत्सर्ग को छोड कर अपवाद मार्ग पर आना ही पडता है। जीवन—आखिर जीवन ही है। उत्सर्ग मे रह कर समाधि रहे, तो वह ठीक। यदि अपवाद मे समाधि भाव रहे, तो वह भी ठीक। सयम मे समाधि रहे—यही मुख्य बात है।

सत्य भाषण—यह भिक्षु का उत्सर्ग मार्ग है। दशवैकालिक मे कहा है—"मृषावाद, असत्य भाषण लोक मे सर्वत्र एव समस्त महापुरुषो द्वारा यह निन्दित है। असत्य भाषण अविश्वास की भूमि है। इसलिए निर्ग्रन्थ मृषावाद का सर्वथा त्याग करते है।"[1]

परन्तु साथ मे इसका अपवाद भी है। आचाराग सूत्र मे वर्णन आता है कि एक भिक्षु मार्ग मे जा रहा था। सामने से एक व्याध या कोई मनुष्य आ गया, बोला—"आयुष्मन् श्रमण! क्या तुमने किसी मनुष्य अथवा पशु आदि को इधर आते-जाते देखा है?" इस प्रकार के प्रसग पर प्रथम तो भिक्षु उसके वचनो की उपेक्षा करके मौन रहे। यदि बोलने जैसी ही स्थिति हो तो 'जानता हुआ भी यह कह दे कि मैं नही जानता।'[2]

यहाँ पर असत्य बोलने का स्पष्ट उल्लेख है। यह भिक्षु का अपवाद मार्ग है। इस प्रकार के प्रसंग पर असत्य भाषण भी पापरूप नहीं है, दोषरूप नहीं है। सूत्रकृतांग सूत्र में भी यही अपवाद आया है। वहाँ कहा गया है—

जो मृषावाद दूसरे को ठगने के लिए बोला जाता है, वह हेय है, त्याज्य है। परन्तु जो हित बुद्धि से या कल्याण भावना से बोला जाता है वह दोषरूप नहीं है, पापरूप नहीं है।[1]

उत्सर्ग मार्ग में अनेषणिक आहार भिक्षु के लिए अभक्ष्य कहा गया है। वह उसकी कल्प की मर्यादा में नहीं है। परन्तु कारणवशात् अपवाद मार्ग में वह अनेषणिक आहार अभक्ष्य नहीं रहता। भिक्षु उसे ग्रहण कर सकता है।

सूत्रकृतांग सूत्र में स्पष्ट कहा जाता है कि— आधाकर्मिक आहार खाने वाले भिक्षु को एकान्त पापी कहना भूल है। उसे एकान्त पापी नहीं कहा जा सकता।

अपवाद दशा में आधाकर्म आहार का सेवन करता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता। एकान्तरूप में यह कहना कि इसमें कर्मबन्ध होता है—ठीक नहीं।

---

१ सादियं न मुसं बूया एस धम्मे वुसीमओ।
यो हि परवञ्चनार्थं समायो मृषावादः स परिह्रियते। यस्तु संयमगुप्त्यर्थं न मया मृषा उपलब्धा इत्यादिकः स न दोषाय।
—सूत्रकृताङ्ग अ ८, गा १९

अहाकम्माणि भुंजंति अण्णमण्णे सकम्मुणा।
उवलित्तेति जाणिज्जा अणुवलित्तेति वा पुणो ॥ ॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो न विज्जइ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए ॥ ९ ॥
—सूत्रकृताङ्ग २ श्रुत

किसी भिक्षु ने संथारा कर लिया। भक्त और पान का जीवन भर के लिए त्याग कर दिया है। शिष्य प्रश्न करता है—"भंते! यदि उस भिक्षु को असमाधि भाव हो जाए और वह भक्त-पान माँगने लगे, तो देना चाहिए कि नहीं?"।

व्यवहार भाष्य में इसका सुन्दर समाधान दिया गया है। आचार्य कहते हैं—"भिक्षु को असमाधि भाव हो जाने पर और उसके भक्त-पान मांगने पर उसे भक्त-पान अवश्य दे देना चाहिए क्योंकि उसकी प्राणों की रक्षा के लिए आहार कवच है।"[1]

शिष्य पूछता है कि त्याग कर देने पर भी भक्त-पान क्या देना चाहिए? आचार्य कहते हैं—

रहे। बिना भक्त-पान के उसे समाधि भाव नहीं रह सकता। अतः उसे कल्प-युक्त आहार देना चाहिए।

शिष्य प्रश्न करता है—"भंते ! संथारा करने वाला भिक्षु भक्त-पान माँगे। उसे न दे और उसकी निन्दा करे तो क्या होता है ?" आचार्य कहते हैं—"जो उसकी निन्दा करता है, जो उसकी भर्त्सना करता है, उसको चार मास का गुरु प्रायश्चित्त आता है।

भिक्षु का यह उत्सर्ग मार्ग है कि वह अपने चतुर्थ महाव्रत की रक्षा के लिए नवजात कन्या का भी स्पर्श नहीं करता। परन्तु अपवाद रूप में वह नदी आदि में प्रवाहित होने वाली भिक्षुणी का हाथ पकड़ कर उसे निकाल भी सकता है। यह भिक्षु का अपवाद मार्ग है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साधक जीवन में जितना महत्त्व उत्सर्ग का है, अपवाद का भी उतना ही महत्त्व है। उत्सर्ग और अपवाद में से किसी का भी परित्याग नहीं किया जा सकता। दोनों धर्म हैं, दोनों ग्राह्य हैं। दोनों के सुमेल से जीवन स्थिर बनता है। एक समर्थ आचार्य के शब्दों में कहा जा सकता है कि—"जिस देश और काल में एक वस्तु अधर्म है, तदभिन्न देश और काल में वह धर्म भी हो सकती है।

भन्ते ! न समस्तपरिज्ञापनापानं क्रियते (भक्तप्रत्याख्यान प्रतिपन्न ग्लान इति) तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो मासा अनुद्घाता गुरुका।

—व्य भा उद्दे० १ गा १११

यस्मिन् देशे काले यो धर्मो भवति।
स एव निमित्तान्तरेषु अधर्मो भवत्येव ॥

अतिचार रहित चारित्र का पालन करना—यह भिक्षु जीवन का लक्ष्य है। यह उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु देश, काल और परिस्थितिवश यदि अतिचार का सेवन भी करना पडे तो वह अपवाद मार्ग है। यह भी धर्म है, अधर्म नही। यह भी मोक्ष का कारण है, अकारण नही। उत्सर्ग के समान अपवाद मार्ग भी मोक्ष मे हेतु है।

इस सम्बन्ध मे व्यवहार भाष्य मे कहा गया है कि-"अतिचार का सेवन दो तरह मे होता है-दर्प मे और कल्प मे।"[1]

देश, काल और परिस्थितिवश कारण को लेकर अतिचार का सेवन किया जाता है। वही अपवाद रूप धर्म है। और वह अपवाद मार्ग पतन का कारण नही, बल्कि कर्म-क्षय का ही कारण है। इस कथन का उल्लेख व्यवहार भाष्य मे स्पष्ट रूप मे आया है। वहाँ कहा गया है कि—"जो कारण-विशेष मे अतिचार का सेवन करता है, वह अपवाद मार्ग पर चलने वाला है। वह आराधक ही है, विराधक नही।"[2]

विधिवाद और निषेधवाद के मध्य में होकर प्रवाहित होने वाली जीवन-सरिता अपने लक्ष्य पर अवश्य पहुँचती है। उत्सर्ग और अपवाद के मध्य में होकर चलने वाला साधक अपनी साधना में अवश्य ही सफल होता है। दोनों आगम विहित मार्ग हैं। यह साधक पर निर्भर है कि किस स्थिति में उत्सर्ग पर चलता है और किस दशा में अपवाद पर चलता है। शास्त्र का काम तो इतना ही है कि दिशा-दर्शन कर दे। चलने वाला तो आखिर साधक ही है।

—विजय राजेन्द्र सूरि-स्मारक ग्रन्थ

संसार की कोई वस्तु न इतनी उपयोगी है, न इतनी दुर्लभ है और न इतनी अमूल्य है—जितना कि मानव-जीवन।

× × ×

"जो कार्य करना चाहता है उसके सम्बन्ध में अपनी पुण्य और समय की जाँच-पड़ताल जब तक न कर ले तब तक कोई काम न करे।

संस्मरण

बड़ा घर या बड़ा मन ?

जयपुर राज्य का एक छोटा-सा गाँव है। सम्भव है जब से यह बसा हो, तब से यहाँ की भूमि को किसी जैन साधु के चरण-स्पर्श का सौभाग्य न मिला हो। हम लोग अजमेर से आते हुए, विहार-यात्रा को छोटी करने के उद्देश्य से इधर आ गए हैं और भिक्षा के लिए घर-घर अलख जगा रहे हैं।

परन्तु यहाँ भिक्षा कहाँ ? गाँव बहुत गरीब मालूम होता है। क्या मकान, क्या कपड़े, क्या भोजन और क्या मनुष्य—सब पर दरिद्रता की मुद्रा स्पष्टतः उभरी हुई दिखाई देती है। जहाँ भी पहुँचते हैं, एक मात्र नकार में उत्तर मिलता है और वह भी तिरस्कार, घृणा एवं अभद्रता से सना !

फिर कह रहा है—'बड़ा घर है, यहाँ न मिलेगा तो कहाँ मिलेगा ? किसानों के इन छोटे-छोटे घरौंदे जैसे घरों में भला देने को है ही क्या ? जहाँ कुछ होता है, वहीं तो मिलता है।"

मैंने इन्कार नहीं किया। कहा—"चलो क्या आपत्ति है ? अच्छा है, क्षुधा पूर्ति के लिए कुछ मिल जाए ? परन्तु हमें बड़े घर की अपेक्षा बड़े मन की अधिक आवश्यकता है। कहीं ऐसा न हो बड़े घर में बड़ा मन न मिले ?

बड़ी शानदार बम्बईनुमा हवेली है। आर्थिक शक्ति का काफी अच्छा दुरुपयोग किया है। सेठ जी नहीं मिले हम ऊपर आहार लेने चढ़े। एक मंजिल से दूसरी मंजिल और दूसरी से तीसरी। मैंने साथी से हँसते हुए कहा—'चढ़े चलो तुम्हें तो जीते जी ही स्वर्ग-यात्रा करनी पड़ गई। पता नहीं इस स्वर्ग में तुम्हें कुछ मिलेगा भी या नहीं ?

'क्यों न मिलेगा ?' 'स्वर्ग जो ठहरा !

स्वर्ग में तो सब कुछ मिलना चाहिए ?'

'स्वर्ग में और सब कुछ भले ही मिल सके पर रोटी नहीं मिलती। रोटी तो मानव-लोक का ही आविष्कार है !'

चौथी मंजिल पर भोजन गृह में पहुँच गए हैं। बहनें बैठी हैं और कुछ इधर-उधर के कामों में उलझी हुई हैं। वस्त्र तो इतने अच्छे नहीं हैं पर गहनों से लदी पड़ी हैं। हाथ-पैर, कान-नाक और कंठ सोने से पीले हो रहे हैं। एकेक बहन ने काफी अच्छी रकम अवरुद्ध कर रखी है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से यह धन मृत धन है। जो धन चलता-फिरता नहीं है आगे उपज नहीं करता है न इस लोक की और न परलोक की वह मृत हो जाता

है। मनुष्य मुर्दा आदमी को घर में नहीं रख सकता, परन्तु मुर्दा धन को अवश्य दबाए रह सकता है।

भोजन तैयार है, गेहूँ की ताजा रोटियों की थई सामने ही चौके के अन्दर रखी हुई है। परन्तु साधु की भाषा ऐसा कैसे कहे कि—"लाओ, रोटी दो!"

मेरे साथी ने भिक्षा की भूमिका बांधते हुए कहा—"क्यों, भोजन तैयार है न?"

चलती-फिरती हिलती-डुलती सोने से लदी पुतलियां सहसा निश्चेष्ट और शान्त हो गयी! ऐसा लगा, जैसे मानो समाधि की साधना में लगी हों!

सम्पन्न, दीर्घदर्शी, अनुभवी, देशकालज्ञ, श्रमण-सघ के एक-मात्र आधार स्तम्भ, दूरातिदूर देशो मे अनेकान्त की जय-पताका फहराने वाले कर्तव्य-पथ पर आचार्य-पद जैसे महान् गौरवमय पद को पूर्णतया चरितार्थ करने वाले, उत्सर्ग एव अपवाद मार्ग की जटिलतम गुत्थियो को सहज ही सुलझाने वाले आचाय देव की अद्वितीय महिमा एव सुपमा को जानकर कौन प्रसन्न न हो ? और कौन होगा वह महा अभागा जो अपने इस भाँति परमोपकारी सत्पुरुषो का गुण-कीर्तन न करना चाहे—"वाग्जन्म वैफल्यमसह्यशल्य गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत् ।" अर्थात्—अधिक गुणो वाली वस्तु को देखकर मौन रहना—वाणी और जन्म को व्यर्थ खोना है। यह वात हृदय मे असह्य काँटे के समान चुभती है।

महामहनीय आचार्य श्री जवाहर लाल जी महाराज उन महापुरुषो मे से है, जिन्होंने अपने जीवन की अमर ज्योति जला कर जैन-सस्कृति के महान् प्रकाश से ससार को प्रकाशित कर दिया है। आप जिधर भी गए, उधर ही ज्ञान-दीपक का प्रकाश फैलाते गए, जनता के बुझे हुए हृदय-दीपको मे ज्ञान-प्रकाश का सचार करते गए और शास्त्रोक्त 'दीपसमा आयरिया' के सिद्धान्त को पूर्ण सत्य के रूप मे चमकाते गए। साधारण चन्द्र, सूर्य, तारा आदि का महत्व अपने चमकने मे ही है, किन्तु दीपक तथा आचार्य का महत्व अपने-सा प्रकाश स्वसम्वन्धित दूसरो मे उतारने के लिए है। आचार्य श्री ने अपने महान् व्यक्तित्व की छाया मे युवाचार्य श्री गणेशीलाल जी आदि, वे महान् सन्त तैयार किए हैं, जो भविष्य मे अधिकाधिक उद्भासित होते जाएँगे। आचार्य के जीवन का महत्व अपने निर्माण करने तक ही सीमित नही है, प्रत्युत उनके जीवन की सफलता पार्श्वचरो के जीवन-

निर्णीत तक है। इस दशा में आचार्य श्री जी की सफलता सद प्रतिपाद अभिनन्दनीय है।

आपकी भाषण-शैली बड़ी ही चमत्कृति-पूर्ण है। जिस किसी भी विषय को उठाते हैं आदि से अन्त तक उसे ऐसा चित्रित करते हैं कि जनता मंत्र-मुग्ध हो जाती है। चार-चार, पाँच-पाँच हजार जनता के मध्य आपका गम्भीर स्वर गरजता रहता है, और बिना किसी लाउडस्पीकर के श्रोता दत्तचित्त से एकटक ध्यान लगाए सुनते रहते हैं। बड़ी-से-बड़ी परिषद् पर आप कुछ ही क्षणों में नियन्त्रण कर लेते हैं। आपके श्रीमुख से वाणी का वह अखण्ड प्रवाह प्रवाहित होता है कि बिना किसी विराम के बिना किसी परिवर्तन के बिना किसी खेद के बिना किसी अरुचि के निरन्तर अधिकाधिक ओजस्वी गम्भीर, रहस्यमय एवं प्रभावोत्पादक होता जाता है। व्याख्यान में कहीं पर भी भाव और भाषा का सामञ्जस्य टूटने नहीं पाता। प्राचीन कथानकों के वर्णन का ढंग आपका ऐसा अनुपम एवं सुरुचिपूर्ण है कि हजार हजार वर्षों के जीर्ण-शीर्ण कथानकों में नव-जीवन पैदा हो जाता है। आपकी विचार-धारा आध्यात्मिक तीक्ष्ण सूक्ष्म एवं गम्भीर होती है। सहसा किसी व्यक्ति का साहस नहीं पड़ता कि आपके विचारों की गुरुता का किसी प्रकार हलका कर सके या उसे छिन्न-भिन्न कर सके। आपका कल्पनाशील मस्तिष्क विचारों की इतनी अच्छी उर्वरा भूमि है कि व्याख्या में नये-से-नये विचार नय-से-नया स्वरूप उपस्थित करती है।

आपका महान् व्यक्तित्व अनेकानेक चमत्कारों से भरा पड़ा है। जीवन का बहुमुखी रूप ही युग-प्रधानत्व के महान् गौरव का द्योतक है। आचार्य श्री जी के आदरास्पद हैं। जैन-संस्कृति की महान् विभूति है। उनकी सेवा में श्रद्धाञ्जलि अर्पण करना

प्रत्येक सहयोगी का कर्त्तव्य है। इसी कर्त्तव्य के नाते उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखी गई है। हम समझते है कि आचार्य श्री की महत्ता इन अक्षरो मे आबद्ध नही हो सकती, फिर भी भाषण और लेखन मनुष्य के आन्तरिक भावो के परिचय का आंशिक किन्तु अनन्य संकेत है। हृदय का पूर्ण चित्रण इसमे नही हो सकता।

आचार्य श्री के जैन-संघ पर महान् उपकार है, उन्हे स्मृति-पथ मे लाकर पंजाब प्रान्त के सुदूर प्रदेश मे अवस्थित हमारा हृदय अतीव पुलकित है, हर्षित है, आनन्दित है।

—जवाहर जीवन

"मनुष्य श्रद्धा के बिना जीवित नहीं रह सकता। श्रद्धा धर्म के प्रति हो या नास्तिकता के प्रति, मनुष्य के लिए श्रद्धा जरूरी है।"

× × ×

"अपने हृदय और जीवन को शुद्ध किए बिना ध्यान असफल होगा, और उससे आसुरी शक्ति पैदा होगी। इसलिए जो उच्च जीवन व्यतीत करना चाहता है, उसे हृदय की पवित्रता का प्रयत्न करना चाहिए।"

एक मधुर-स्मृति

जन्म और मरण की उलझी हुई कड़ियों का नाम ही दार्शनिक भाषा में संसार है। यहाँ नहीं मालूम रोज कितने जन्म लेते हैं और मरते हैं? कहीं ओठों में हर्ष की मधुर मुस्कराहट है तो कहीं शोक के उत्तप्त अश्रु बिन्दु! संसार इस हँसने रोने के पथ पर अनन्त काल से चला आ रहा है। यह हमारे लिए कोई नई चीज नहीं है! तभी तो मारवाड़ के एक मर्मी सन्त ने कहा है— यह जन्म-मरण संसार जिसे कुण रोवे।

फिर भी संसार में कुछ जीवन ऐसे होते हैं जो अपनी व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं के पीछे सार्वजनिक दृष्टि को खींच लेते हैं। कभी कभी उनकी व्यक्तिगत घटनाएँ, बड़े से बड़े त्यागी विरागी उदासीन आत्माओं को भी अपनी चालू स्थिति में नहीं रहने देती हैं। महान् से महान् तटस्थ भी उस लहर में डूब जाता है। यदि यहाँ जीवन सफलता के आदर्श की ओर कुछ संकेत करूँ तो मैं कह सकता हूँ कि वस्तुतः वही जीवन सफल है आदर्श है जो अधिक से अधिक तटस्थ जीवन में भी कम्पन पैदा कर दे। चिरञ्जीव राजेन्द्र एक ऐसा ही होनहार तरुण था जिसकी मृत्यु घटना ने मुझ-से त्यागी हृदय को भी एक बार विक्षुब्ध कर दिया।

अठारह वर्ष का वह बिल्कुल नया उभरता हुआ यौवन, सुगठित और सुदृढ शरीर! अग अग मे वानर हनूमान की सी स्फूर्ति! जब भी उपाश्रय मे आ जाता, बडा भला लगता था। जिस किसी के भी परिचय मे आ जाता, वह भूलता न था! आज के युग मे, फिर कालेज की शिक्षा मे, इस पर भी धनीमानी घर का लाडला सुपुत्र होकर भाग्य से ही कोई युवक सत्य पथ पर चलता है! परन्तु हमारा राजेन्द्र यह सब कुछ होकर भी व्यर्थ की झझटो और बुरी आदतो से परे था। न वह सिगरेट-बीडी पीता था, न वह किसी अन्य मटरगश्ती मे रहता था। नही पता, वह पूर्व जन्म से क्या सस्कार लेकर आया था कि प्रारम्भ से ही, होश सभालते ही साहित्य के प्रति अनुराग रखने लग गया था। साहित्य-सघ नाम की बालको की एक सुन्दर सस्था उसी के कधो पर चल रही थी। एक दिन मुझे अपने घर ले गया तो मैं उसकी अपनी गृह लायब्रेरी देखकर चकित रह गया। धार्मिक, सामाजिक, वैज्ञानिक आदि विविध विषय की पुस्तको का सुन्दर चुनाव, वस्तुत उसकी स्पष्ट सुलझी हुई प्रतिभा का परिचायक था। जब भी कभी कही कोई सुन्दर पुस्तक देख पाता, झटपट उसी दम आर्डर दे डालता। मैं समझता हूँ, यह गुण उसे अपने पिता सेठ रतन लाल जी के द्वारा पैतृक सम्पत्ति के रूप मे मिल गया था। इस दिशा मे राजेन्द्र ठीक अपने पिता के चरण-चिन्हो पर चल रहा था।

पहले वह जैन समाज के क्षेत्र मे कुछ कार्य नही करता था। एक प्रकार से यो कहना चाहिए कि वह इस ओर से उदासीन ही था, परन्तु जब से हम इधर आए और वह हमारे परिचय मे आया, इस क्षेत्र मे भी बहुत अधिक अग्रसर हो चला था। 'जैन कुमार परिषद्' के उत्साही युवको ने जब मासिक साहित्य के

रूप में 'वर्द्धमान' निकालने का विचार किया तो प्रकाशन मंत्री का भार उसी के कुशल हाथों में सौंपा गया। मैं देखता था—उत्तरदायित्व का उसे कितना अधिक ध्यान रहता था! न धूप की परवाह है न सर्दी की न खाने की चिन्ता है न आराम की। वह भागा भागा जलती दुपहरी में प्रेस जाता है और वर्द्धमान के छपाने का प्रबन्ध करता। वर्द्धमान के दो ही अंक उसके सामने निकले बहुत सुन्दर निकले। दुर्भाग्य से तीसरे अंक का समय आने से पहले ही वह चला गया। अब उसे कहाँ खोजना है? मैं अपने मन में एक बहुत सुन्दर साहित्यिक योजना उसी के उत्साह और क्रियाशीलता पर बना रहा था वह अब किस के भरोसे बाहर आए? सचमुच उसकी असामयिक मृत्यु से बहुत अधिक दुःख हुआ है। जब भी कभी मैंने उसे कोई काम सौंपा उसने इतनी चतुरता इतनी श्रद्धा और लगन से किया कि मैं हर्ष विभोर हो गया। सेठ रतनलाल जी मेरे चिर स्नेहियों में से हैं बड़ी लगन और धुन से काम करने वाले हैं परन्तु मेरा विश्वास है कि यदि वह जीवित रहता तो सेठजी से बहुत अधिक आगे बढ़ जाता समाज में दूर-दूर तक नाम कमाता। पर ऐसा होना कब था? मन के संकल्प किस के पूरे हुए हैं?

पिछले चातुर्मास में अहमदाबाद से पण्डित बेचरदास जी और कलकत्ता से फ्रेंच राजदूत प्रोफेसर गोमिबर मुकुन्द जी आगरा में पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज के दर्शनार्थ आए थे तो उस समय उनके स्वागत-समारोह आदि में राजेन्द्र ने जो उत्साह पूर्वक भाग लिया उसने दोनों विद्वानों का मोह लिया था। इस छोटी-सी अवस्था में उसकी यह क्रियाशीलता को देखकर हर कोई सज्जन चमत्कृत हो गए थे। अच्छे से

अच्छे उत्सव और समारोहो को सफलता पूर्वक सम्पन्न करने का उसमे वस्तुत अनूठा गुण था।

दो-एक वार मुझे वह आगरा कालिज के वाहर अपने कालेज के साथियो के साथ मिला है। ज्यो ही वह हम सन्तियो को देखता, श्रद्धा से चरण छूकर वन्दना करता। उसे सकोच नही होता कि मै इन नटखट कालेजियट साथियो के सामने यह क्या कर रहा हूँ ? आज के हमारे नवयुवको मे यह दब्बूपन बहुत कम हो गया है। साथियो के साथ होते हुए इस प्रकार चरण-स्पर्श करना, उनके लिए लज्जा की बात है। मैं समझता हूँ, गजेन्द्र का आदर्श इन युवको के लिए अनुकरण की चीज है।

जाने वाला चला जाता है, पीछे वाले क्या करे ? क्या उसकी याद मे रो-रोकर आँसू बहाएं ? नही, यह पथ जैन-सस्कृति के अनुकूल नही है सेठ रतनलाल जी ने जिस धीरता से यह दुःख सहा है, वस्तुत वह आदर्श की चीज है। उन्हो ने ससार के समक्ष वीतराग उपासना का ज्वलन्त आदर्श उपस्थित कर दिया है। सद्गत आत्मा को इससे शान्ति मिलेगी और समाज को भी इससे कुछ भावना प्राप्त होगी।

—वर्धमान

रूप में 'वर्द्धमान' निकालने का विचार किया तो सम्पादन भी का भार उसी के सुयश हाथों में सौंपा गया। मैं देखता था— उत्तरदायित्व का उसे कितना अधिक ख्याल रहता था! न भूख की परवाह है न गर्मी की न जाड़े की चिन्ता है न आराम की। वह मारा-मारा कलकत्ती दुपहरी में प्रेस जाता है और वर्द्धमान के बनाने का प्रयत्न करता। वर्द्धमान के दो ही अंक उसके सामने निकले बहुत सुन्दर निकले। दुर्भाग्य से तीसरे अंक का समय आने से पहले ही वह चला गया। अब उसे कहाँ खोजना है? मैं अपने मन में एक बहुत सुन्दर साहित्यिक योजना उसी के उत्साह और क्रियाशीलता पर बना रहा था वह अब किस के भरोसे बाहर आए? सचमुच उसकी असामयिक मृत्यु से बहुत अधिक दुःख हुआ है। जब भी कभी मैंने उसे कोई काम सौंपा, उसने इतनी चतुरता इतनी श्रद्धा और लगन से किया कि मैं हर्ष विभोर हो गया। सेठ रतनलाल जी मेरे चिर स्नेहियों में से हैं बड़ी लगन और धुन से काम करने वाले हैं परन्तु मेरा विश्वास है कि यदि वह जीवित रहता तो सेठजी से अगर अधिक आगे बढ़ जाता समाज में दूर-दूर तक नाम कमाता। पर ऐसा होना कब था? मन के संकल्प किस के पूरे हुए हैं?

पिछले वर्षावास में पद्मावती से पण्डित बेचरदास जी और कलकत्ता से सेठ राजपुर गोविन्द मोतीचन्द सुराणा जी आगरा में पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज के दर्शनार्थ आए थे तो उस समय उनके स्वागत-सत्कार में अति म उन्होंने बड़ा उत्साह पूर्वक भाग लिया। उसने दोनों विद्वानों को मोह लिया था। इस छोटी-सी अवस्था में उसकी यह मिला- -मिलना को देखकर हर कोई सज्जन चमत्कृत हो गए थे। सभी ने

रूप में 'वर्द्धमान' निकालने का विचार किया तो प्रकाशन मंत्री का भार उसी के कुशल हाथों में सौंपा गया। मैं देखता था— उत्तरदायित्व का उसे कितना अधिक ख्याल रहता था! न धूप की परवाह है न गर्मी की, न खाने की चिन्ता है न आराम की। वह भागा भागा जलती दुपहरी में प्रेस जाता है और वर्द्धमान के छपाने का प्रबन्ध करता। वर्द्धमान के दो ही अंक उसके सामने निकले, बहुत सुन्दर निकले। दुर्भाग्य से तीसरे अंक का समय आने से पहले ही वह चला गया। अब उसे कहाँ खोजना है? मैं अपने मन में एक बहुत सुन्दर साहित्यिक योजना उसी के उत्साह और क्रियाशीलत्व पर बना रहा था, वह अब किस के भरोसे बाहर आए? सचमुच उसकी असामयिक मृत्यु से बहुत अधिक दुःख हुआ है। जब भी कभी मैंने उसे कोई काम सौंपा उसने इतनी चतुरता, इतनी श्रद्धा और लगन से किया कि मैं हर्ष विभोर हो गया। सेठ रतनलाल जी मेरे चिर स्नेहियों में से हैं, बड़ी लगन और धुन से काम करने वाले हैं, परन्तु मेरा विश्वास है कि यदि वह जीवित रहता तो पिता से बहुत अधिक आगे बढ़ जाता, समाज में दूर-दूर तक नाम कमाता। पर ऐसा होना कब था? मन के संकल्प किस के पूरे हुए हैं?

पिछले चातुर्मास में महमदाबाद से पण्डित बेचरदास जी और कलकत्ता में श्री राजपूत प्रोफेसर गोविन्द मुकुन्द जी आगरा में पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज के दर्शनार्थ आए थे, तो उस समय उनके स्वागत-समारोह आदि में राजेन्द्र ने बड़े उत्साह पूर्वक भाग लिया, उसने दोनों विद्वानों का मोह लिया था। इस छोटी-सी अवस्था में उसकी यह क्रियाशीलता को देखकर हर कोई सज्जन चमत्कृत हो गए थे। अच्छे से

अच्छे उत्सव और समारोहों को सफलता पूर्वक सम्पन्न करने का उसमें वस्तुतः अद्भुत गुण था।

दो-एक बार मुझे वह आगरा कालिज के बाहर अपने कालेज के साथियों के साथ मिला है। ज्यों ही वह हम मुनियों को देखता, श्रद्धा से चरण छूकर वन्दना करता। उसे संकोच नहीं होता कि मैं इन नटखट कॉलेजिएट साथियों के सामने यह क्या कर रहा हूँ? आज के हमारे नवयुवकों में यह बड़प्पन बहुत कम हो गया है। साथियों के साथ होते हुए इस प्रकार चरण-स्पर्श करना, उनके लिए लज्जा की बात है। मैं समझता हूँ, राजेन्द्र का आदर्श उन युवकों के लिए अनुकरण की चीज है।

जाने वाला चला जाता है, पीछे वाले क्या करें? क्या उनकी याद में रो-रोकर आँसू बहाएँ? नहीं, यह पथ जैन-संस्कृति के अनुकूल नहीं है। सेठ रतनलाल जी ने जिस वीरता से यह दुःख सहा है, वस्तुतः वह आदर्श की चीज है। उन्होंने संसार के समक्ष वीतराग उपासना का ज्वलन्त आदर्श उपस्थित कर दिया है। सद्गत आत्मा को इससे शान्ति मिलेगी और समाज को भी इससे कुछ भावना प्राप्त होगी।

—वर्धमान

<u>जीवन के मधुर-क्षण</u>

उपाध्याय श्री प्यारचन्द जी महाराज आज हमारे मध्य में नहीं रहे परन्तु उनके सद्गुणों की मधुर-स्मृति आज भी जन-जन के मानस पर अंकित है। उनके पावन-जीवन की मधुरता सुन्दरता एवं सरसता स्वयं अपने-आप में एक पवित्र संस्मृति है क्योंकि सन्त-जीवन स्वयं अपना चिरन्तन स्मारक होता है। फिर भी उसके दिव्य गुणों का समादर करने के लिए तथा उसके प्रति अपनी श्रद्धा को अभिव्यक्त करने के लिए उसके अनुगामी अपनी भक्ति के पुष्प अर्पण किया करते हैं। करना भी चाहिए।

श्रद्धेय प्यारचन्द जी महाराज के साथ मेरा प्रथम परिचय अजमेर सम्मेलन के अवसर पर हुआ था परन्तु वह एक अल्प परिचय था। उनके मधुर व्यक्तित्व का स्पष्ट परिचय लोहा-मंडी—आगरा में हुआ था जब कि वे अपने पूज्य गुरुदेव दिवाकर जी महाराज की सेवा में थे और कानपुर का वर्षावास समाप्त करके आगरा लौटे थे उस अवसर पर मैं भी दिल्ली से आगरा आया था। कतिपय दिवसों का वह मधुर मिलन आज भी मेरे जीवन की मधुर संस्मृतियों में से एक है जिसको भुलना भुलाना सहज सरल नहीं है। वे मधुर क्षण जिन्होंने गहन परिचय की आधार-शिला बनकर दो व्यक्तियों को निकट से निकट तर लाने का महान् कार्य किया—कैसे भुलाए जा सकते हैं ?

सादडी सम्मेलन से पूर्व विजयनगर मे और अजमेर मे मैंने पण्डित प्यारचन्द जी महाराज के सन्त-जीवन एव उनके विचारो का निकट से अध्ययन किया था । समाज-सघटन मे उनका अमित विश्वास था, बिखरे समाज को एक सूत्र-बद्ध देखने का उनका चिर-स्वप्न था । वे हृदय के अन्दर से यह चाहते थे कि स्थानकवासी समाज मिलकर एक हो, और इस सकल्प की पूर्ति के लिए वे बडे-से-बडे त्याग के लिए सदा तैयार मिलते थे, जैसा कि व्यावर मे पच-सम्प्रदायो का समीकरण किया भी था ।

सादडी सम्मेलन तथा सोजत सम्मेलन मे मेरे द्वारा जो भी सघ-सेवा हो सकी, उस पवित्र कार्य मे निरन्तर एव उन्मुक्त भावना से उनकी ओर से जो सक्रिय सहयोग मिला, उसके लिए मैं अपने आप को सौभाग्यशाली समझता हूँ । उक्त दो अवसरो पर उनके विचारो की बुलन्दी का अन्तरग परिचय मुझ को मिला । उपाध्याय प्यारचन्द जी महाराज वस्तुत समाज के एक महान् मूक सेवक थे । सब कुछ करना, फिर भी उस कार्य के फल से अपने-आप को मुक्त रखना—उनके सुन्दर जीवन की एक विशिष्ट कला, जो कि हर किसी पदवी-धर मे प्राय नही मिलती । वे कार्यकर्त्ता थे, पर उस सत्कर्म के फल-भोक्ता नही थे । मैं समझता हूँ, यह उनके सन्त-जीवन की सर्वतोमहती विशेषता थी, जो उन्ही के युग के दूसरे व्यक्तियो मे प्राय सहज-सुलभ नही है ।

भीनासर सम्मेलन मे समाज के बिखराव को देखकर वे अपने-आप मे अत्यन्त सन्तप्त थे । भीनासर से लौटकर जब वे अजमेर से नागौर को वर्षावास के लिए जा रहे थे, तब कुचेरा मे वे मुझे मिले थे, यह उनका अन्तिम मिलन था । उस समय वे समाज विरोधी तत्त्वो की उखाड-पछाड से अत्यधिक खिन्न थे ।

समाज-संघटन को छिन्न-भिन्न करने वालों के प्रति वे कठोर नीति अपनाने पर विशेष बल देने की संयोजना बना रहे थे। वे नहीं चाहते थे कि किसी भी कीमत पर समाज-संघटन को हम अपने सम्मुख बिगड़ते देखें। वे हृदय से निर्मल थे। समाज के नव्य निर्माण में उनका अमिट विश्वास था। मैं अपने अन्दर एक गहरी वेदना का अनुभव करता हूँ—अपने बुद्धिवादी और साथ ही सहृदय साथी के अभाव में। परन्तु क्या करें ?

'कालस्य गहना गतिः'

यहाँ आकर व्यक्ति विवश है।

फिर भी वह एक ज्योतिर्धर महान् व्यक्तित्वशाली जो आज हमारे पास में भौतिक रूप में भले ही न रहा हो पर विचार रूप में आज भी वह हमारे मानस में स्थित है। उनके अनुपम सद्गुणों के प्रति मैं अपनी ओर से श्रद्धा के दो-चार पुष्प अर्पित करता हूँ।

—पारसमल स्मृति-ग्रन्थ

विनयचन्द भाई, मरे नहीं !

श्रीयुत विनयचन्द भाई !! क्या लिखाऊँ और क्या न लिखाऊँ, कुछ ठीक-ठीक समझ मे नही आ रहा है। उन्हे स्वर्गीय कहते अन्तर्मन मे शूल-सी चुभती है, आकुलता होती है। वीतराग पथ का यात्री भिक्षु भी आखिर 'भवन्ति भव्येषु हि पक्ष-पाता' की सीमाओ मे कुछ हद तक आबद्ध है न ?

पिता की ज्योति पुत्र मे चमकती है, यह पूर्ण सत्य तो नही, किन्तु अर्द्ध-सत्य अवश्य है। हाँ, विनयचन्द भाई मे तो यह सत्य उतरा और पूरी तरह उतरा, कुछ अशो मे तो वह आगम की भाषा मे अतिपुत्र से प्रतीत होते थे। श्रीयुत दुर्लभ जी भाई, मर-कर भी नही मरे थे। एक योग्य पिता अपने योग्य पुत्र की उपस्थिति मे क्या कभी मरा करता है ?

क्या विनयचन्द भाई मर गए ? भारतीय सस्कृति इससे इन्कार करती है। भारत की पुरातन सस्कृति मे सफल जीवन मर कर भी अमर है। जो जीवन के रग-मच पर हँसी-खुशी मे आया, जो जीवन के खेल मे हँसी-खुशी से खेला, जो जीवन को हरा-भरा छोड हँसी-खुशी मे आगे बढ गया, दूर चला गया—उसका जीवन तो जीवन है ही, किन्तु उसका मरण भी जीवन है। उक्त परिभाषा की दृष्टि मे मैं विनयचन्द भाई को मरा हुआ नही मानता। वे समाज-सेवको के लिए प्रारम्भ से ही एक महत्वपूर्ण

प्रेरणा के स्रोत रहे और मृत्यु! यह तो प्रेरणा का अजस्र स्रोत है। जो सहृदय हैं—जिनका जीवन 'स्व' में बन्द नहीं है जो समाज के लिए कुछ करना चाहते हैं—उनके लिए विनयचन्द भाई का महाप्रयाण युग-युग तक चिरस्मरणीय रहेगा भुलाया नहीं जा सकेगा।

विनयचन्द भाई वस्तुतः समाज-सेवा के क्षेत्र के एक वीर सैनिक थे। वे 'फूल और शूल' दोनों से खेलना जानते थे। न वे प्रशंसा के फूलों से झुके और न निन्दा के शूलों से डरे। एक-दो बार डरे भी ठिठके भी और पीछे भी हटे किन्तु फिर सँभले और खूब सँभले। अन्त में हार को जीत में बदल ही तो डाला। समाज के लिए काम करते-करते विदा हुए, एक बहादुर सिपाही की तरह युद्ध के मोर्चे पर लड़ते-लड़ते प्राणों पर खेल गए। यह जीवन का अन्त—एक शानदार अन्त है। वस्तुतः यह मृत्यु नहीं अपितु समाज की वेदी पर एक शहीद का युग-युगान्तर तक प्रकाशमान रहने वाला आत्म-बलिदान है। जिसके जीवन का पल-पल समाज-सेवा करते-करते हुआ विलय, भाग्यशाली था वह विनयचन्द भाई!

मैं समझता हूँ समाज के लिए उनका न रहना—यह एक घातक चोट है। यह वह घाव है जो जल्दी ही नहीं भर जा सकेगा। फिर भी जन-धर्म शोक करने के लिए नहीं कहता। वह कहता है—जाने वाली आत्मा को शानदार विदाई दो और अपनी पूरी शक्ति से दिवंगत आत्मा के अधूरे रहे मनोरथों को पूर्ण करने के लिए जुट जाओ। विनयचन्द भाई के प्रति समाज-सभी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करनी ही चाहिए और वह श्रद्धाञ्जलि एक मात्र यही है कि उनके स्वीकृत पथ को अधिकाधिक प्रशस्त बनाया जाए। —विनयचन्द स्मृति-ग्रन्थ

एक मधुर-सस्मृति

सरलता की ज्योति '

सन्त-जीवन का सर्वतोमहान् सद्‌गुण है—सरलता। सरलता के विना जीवन मे सहज-सौम्यता नही श्रा पाती। सरल जीवन सर्वत्र समादर पाता है। सरलता शुद्ध जीवन की कसौटी है। जहाँ सरलता है—वहाँ समता है, समदृष्टि है तथा सदाचार है। धर्म की प्रतिष्ठा सरल जीवन मे ही सम्भव है। सरलता का श्रर्थ है—वक्रता का श्रभाव। भगवान् महावीर की वाणी मे—'जीवन की शुद्धि—ऋजुता मे है, वक्रता मे नही।'

श्रद्धेय गणी श्री श्यामलाल जी महाराज, जो श्राज से कुछ मास पूर्व तक हमारे मध्य मे थे, पर श्राज जिनकी मधुर सस्मृति ही हमारे पास है—जिनका श्रभाव मन को पीडा से भर देता है,—वे सरलता एव सौम्यता के देवता थे। जो मन मे सो वाणी मे, श्रौर जो वाचा में सो कर्म मे। जीवन की यह एक-रूपता श्रति दुर्लभ है, परन्तु श्रद्धेय गणी जी महाराज मे वह श्रपने सहज रूप मे थी। उनके पावन जीवन का यह पहलू कितना स्पृहणीय है! वे सरलता की सहज ज्योति थे।

सेवा-व्रती सन्त

'सेवा' कहना सरल है, पर करना श्रति दुष्कर। विकट वनो मे योग साधना करना सरल है, पर सेवा के गहन पथ पर

बनना सहज नहीं है। क्योंकि—'सेवा-धर्मः परम-गहनः' अर्थात्—सेवा-धर्म परम गहन है। सेवा वही कर सकता है जो अपने-आप को सहर्ष समर्पित कर सकता हो जो विनय-विनम्र हो चुका हो। अर्पित करने की शक्ति तथा अपनी अहंकृति को जीतने का साहस जिसमें हो वही तो सेवक बन सकता है।

'अर्पण भावना' और 'विनय-शीलता'—ये दोनों गुण श्रद्धेय गणी जी महाराज में सहज सुलभ थे Habitual actions (अभ्यास-जन्य) नहीं थे। मेरे परम गुरु श्रद्धेय आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज की सेवा आपने तन और मन से की। दीर्घकाल तक सेवा करना और वह भी प्रसन्न मुख से—बहुत बड़ी बात है। श्रद्धेय गणी जी महाराज उनकी सेवा में दीर्घकाल तक रहे परन्तु कभी भी सेवा में वे प्रमत्त नहीं रहे। जब कभी जिस किसी भी सभा में सेवा की आवश्यकता पड़ी—गणी जी महाराज सदा के उस मोर्चे पर सब से आगे अग्रिम-होकर रहे। उनका सम्पूर्ण जीवन ही सेवामय रहा। 'सेवा' उनके तप पूत जीवन का परम साध्य था।

त्याग मूर्ति

'त्याग' साधक जीवन का प्राण है। साधक जीवन में यदि त्याग है तो सब कुछ है नहीं तो कुछ भी नहीं। श्रद्धेय गणी जी महाराज के जीवन में त्याग की चमक त्याग की दमक कभी मन्द नहीं हो सकी। खाने-पीने की कितनी वस्तुओं का उनका त्याग था जिनका नाम बताना भी मेरे लिए कठिन होगा। प्रतिदिन कुछ-न-कुछ त्याग करते रहना उनका दैनिक कार्य-क्रम था। अपने जीवन में तप भी उन्होंने बहुत किया। बेला तेला चोला और अठाई न जाने कितनी बार की। परन्तु कभी भी

उन्होंने अपने आपको तपस्वी होने का दावा पेश नही किया। वे कहा करते थे—'तप एव त्याग तो आत्म-शोधन की वस्तु है, आत्म-ख्यापन की नही।'

ज्ञान और कर्म-योगी

'ज्ञान पिपासा' उनके पावन जीवन की सब से बडी साध थी। कोई भी नयी पुस्तक मिले, उसे पढने के लोभ का वे सवरण नही कर सकते थे। नन्हे-मुन्ने बच्चो को लेकर बैठ जाना और उन्हे मधुर धार्मिक कहानियो का प्रलोभन देकर, प्रतिदिन आने को प्रेरित करना, फिर उन्हे धीरे-धीरे सामायिक, प्रतिक्रमण और थोकडे याद कराना—उनके जीवन का सबसे प्रिय तथा मधुर विषय था। 'ज्ञान की प्याऊ' उनके जीवन के अन्तिम दिनो तक चालू रही। वह दृश्य कैसे भुलाया जा सकेगा ?

निष्क्रिय होकर बैठना, उन्हे कभी पसन्द न था। अपने नित्य प्रति के कामो से फुर्सत पाकर ज्योतिष ग्रन्थो का अध्ययन एव मनन करना—उनकी रुचि का विशेष विषय था। 'तेतीस बोल' के थोकडे का वे एक अपूर्व ढग से संकलन कर रहे थे, परन्तु कुछ दिनो से आँखो मे मोतिया उतरने से वह कार्य उनके जीवन मे पूरा न हो सका। वे अपने जीवन के अन्तिम क्षणो तक क्रिया-शील बने रहे।

जीवन के वे मधुर क्षण

श्रद्धेय गणी जी महाराज के मधुर तथा सुन्दर जीवन के वे अन्तिम दिन—जिनमे उनके निकट सेवा मे रहने का परम सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ—वे मेरे जीवन के मधुर क्षण है, जिनमे मैं, एक सेवाव्रती महान् सन्त की सेवा कर सका। —स्मृति-ग्रन्थ

विचार स्वातंत्र्य का अर्थ है—व्यक्ति और उसके विचार को अलग-अलग करके सोचना।

जहाँ बुद्धि कुण्ठित होती है, वहाँ श्रद्धा की आवश्यकता अनुभव होती है। अतः गुरु आवश्यक है। गुरु वसन्त के समान साधक रूपी वृक्ष को प्रफुल्लित करता है।

जीवन किसे कहते हैं? जीवन का अर्थ है—किसी महान् तथा पवित्र उद्देश्य के लिए, विवेक के आलोक से अंजित आलोकित रहने वाला सतत संघर्ष। वह संघर्ष—जिसमें न दैन्य हो, न पलायन।

जो अपने को सुव्यवस्थित अर्थात् सुनियन्त्रित रख सकता है वह परिवार को भी समाज को भी राष्ट्र को भी और एक दिन आस-पास के छोटे-मोटे विश्व को भी सुव्यवस्थित एवं सुनियन्त्रित रख सकता है।

किसी भी अच्छे काम में अपने तन को लगाना ही काफी नहीं है, तन के साथ मन भी लगाना चाहिए। केवल तन पशु लगाता है। अतः उसके भाग्य में केवल भार ढोना ही लिखा है। तन और मन—दोनों को कार्य में लगाने वाला संसार में केवल मनुष्य ही होता है। अतः वह काम का दास नहीं बल्कि स्वामी होता है।

यात्रा-वर्णन

शिमला-यात्रा के सस्मरण

सूरजपुर .

१० अप्रैल, सन् १६४२ ई० । प्रात काल का सुन्दर, सुहावना, सरस समय था । इधर-उधर वृक्षो के सघन झुरमुटो मे, पक्षियो की अलमस्त दुनिया, तरह्-तरह की वोलियो मे शोर मचा रही थी । सामने की ओर हिमालय के ऊँचे शिखर आकाश को छू रहे थे, और उनके ऊपर से भगवान् भास्कर वडे सौम्य रूप मे मैदानो की ओर झांक रहे थे । वगल मे दाहिनी ओर पास ही शिवालक पर्वत-शृ खला के नीचे-नीचे वहती हुई घग्घर अपनी धुन मे उछलती-कूदती, पत्थरो से टकराती, इधर-उधर वल खाती हुई, अम्बाला की ओर द्रुतगति से वही जा रही थी ।

प्रस्तुत सुन्दर वातावरण मे जैन मुनियो का एक विशाल दल, जिनेन्द्र गुरुकुल पचकूला से शिमला के पथ पर अपनी साधु-स्वभाव सुलभ मथर गति से वढ रहा था । जैनाचार्य पूज्य श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज, पण्डित श्री खजानचन्द्र जी महाराज, गणी श्री श्यामलाल जी महाराज, तपस्वी श्री पन्नालाल जी महाराज—ये चार, दल के मुख्य अधिनायक थे । अव वाकी रहे मेरे जैसे छोटे-मोटे और भी, उनके नाम क्या वताएँ, कुल सतरह मुनि थे । मुनि मण्डल के आगे-आगे गुरुकुल पचकूला के प्रसन्न मुख ब्रह्मचारी थे, जो दो कतारो मे स्वस्तिक झडा लहराते हुए,

ठीक फौजी ढंग से मार्च करते हुए चल रहे थे जिनके बयकारों के गम्भीर घोष ऊपर आकाश को इधर-उधर पास के वन प्रदेश को सहसा गुंजा देते थे।

अब लम्बी दूर नहीं चलना है इसलिए आओ शिमला के राज-पथ से जरा हट कर, एक मील दूर शिवालक पर्वत की एक नन्ही-सी गिरिमाला के नीचे-नीचे चलें। कितना सुन्दर दृश्य है। सारी-की-सारी पहाड़ी हरे-भरे वृक्षों-लताओं झाड़ियों से इतनी घनी आच्छादित है कि प्रयत्न करने पर भी आँखों को कहीं पहाड़ी का अपना वास्तविक रूप नजर नहीं आता। यह शिवालक श्रृंखला हिमालय के आस-पास दूर तक डेरा डाले पड़ी है। अधिक ऊँची तो नहीं फिर भी काफी ऊँची चोटियाँ हैं और आप आश्चर्य करेंगे कि इस गिरि-माला में पत्थर बिल्कुल भी नहीं है कच्ची मिट्टी है और वह भी अन्दर से बालू रेती। साधारण मनुष्य देखकर हैरान हो जाता है कि इतनी अरबों मन मिट्टी के विशालकाय गिरिश्रृंग कहाँ से बने हो गए हैं? परन्तु प्रकृति की गोद में ऐसे-ऐसे न मालूम कितने आश्चर्य भरे पड़े हैं। हमारी सीमित कल्पना को चकराने के लिए उसके पास बहुत कुछ है।

'स त श्री अ का —ल! इधर देखिए वह कौन बाइसिकल से उतर रहे हैं? यह सिक्ख पंथ के पंथी साहब हैं—कद लम्बा शरीर गठा हुआ रंग साँवला सिर पर विशाल जटाजूट और उस पर लपेटा हुआ विशाल साफा काली स्याह लम्बी दाढ़ी घुटनों तक नीचे लटकता हुआ ढीलाढाला सा बहुत बड़ा चोगा! सब कुछ अजब-अजब आकर्षक भरा लगता है। बाइसिकल से उतरते हुए पन्थी जी ने अपने सिक्खा

साही तार-स्वर मे "सत्त श्री अकाल" का नारा लगाया और मुनि मण्डल से कहा—'महाराज, कहाँ पधार रहे हैं ? क्या सूरजपुर चलना है ? मुनि मण्डल के 'हाँ' कहने पर ग्रन्थी जी ने वडे प्रेम से हाथ जोडते हुए कहा—"वडी अच्छी वात है, महाराज ! वहाँ अपना गुरुद्वारा है, वडी जगह है, एकान्त है, अभी वना है, कृपया अपने यही विराजना !" पजाव मे सिक्ख पथ सन्त-समाज का कितना स्नेही है, उसका यह एक नमूना है। सिक्ख अतिथि-सत्कार के लिए खूब प्रसिद्ध हैं। किसी भी गाँव मे पहुँचिए, सिक्ख 'परसादा' लिए तैयार हैं। सिक्ख एक प्रसिद्ध सैनिक जाति है, परन्तु उसमे कठोरता के साथ-साथ कोमलता का अद्भुत सम्मिश्रण, परिचय मे आने वाले को सहसा आश्चर्य मे डाल देता है।

अच्छा, तो सूरजपुर आ गया है। कभी होगा, कच्ची दीवारो के घास-फँस के झोपडो मे वसा हुआ, तीस-चालीस घरो का, सूरजपुर गाँव यहाँ ! अव गाँव उठाकर झाझरा नदी के परले पार पहाड की एक छोटी-सी चोटी पर पहुँचा दिया गया है। और इधर सूरज की जमीन पर खडी हो गई है—भीमकाय 'भूपेन्द्र सिह सीमेण्ट फैक्टरी'। वीसवी शताब्दी विज्ञान के चमत्कारो से जगमग-जगमग कर रही है ! जिधर देखिए, उधर ही क्या छोटे, क्या वडे, वैज्ञानिक यत्र चीत्कार करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

पहाडी पर इधर-उधर दूर-दूर तक वँगलो की कतारें हैं। सडकें चक्कर काटती हुई, कभी ऊपर के वँगलो की ओर, कभी नीचे के वँगलो की ओर, नागिन की तरह वल खाती हुई दिखलाई देती हैं। फैक्टरी के यंत्रो की खड-खड का कोलाहल दूर-दूर तक की शान्ति को भग किए रहता है। सात मील दूर पहाड से

पत्थर आता है और उसे यहाँ बारीक पीस कर आग में जला कर, कोयला मिला कर सीमेण्ट तैयार किया जाता है। और भी न जाने किन किन छोटी-छोटी प्रक्रियाओं में से पार होकर पत्थर सीमेण्ट के रूप में अवतरित होता है? कुछ पता नहीं। केवल मोटी-मोटी प्रक्रियाएं ही मालूम हुई हैं और वे लिख दी गई हैं। हाँ तो सात मील से पत्थर क्या बैलगाड़ियों में आता है? नहीं। बिचारी बैलगाड़ियाँ तो बहुत दूर पिछड़ गई हैं उनका यहाँ कल पुरजों की दुनियाँ में क्या काम? अच्छा तो मोटरों में आता है? मोटरें भी यहाँ कहाँ—ऊँचे-नीचे पहाड़ हैं नदी-नाले हैं ऊबड़ खाबड़ हैं मोटरों को तो सड़क चाहिए न? तो क्या रेल से? वह भी नहीं। आपको क्यों फिजूल की लम्बी झंझट में डाला जाए। बात यह है कि फैक्टरी से सात मील दूर कासना के पहाड़ों में पत्थर की खान है। वहाँ से फैक्टरी तक लौह-स्तम्भों के सहारे माला की तरह का दुहरा तार लगा हुआ। उस तार में करीब १ लम्बी चौड़ी बालटियाँ लगी हुई हैं, प्रत्येक बालटी में करीब ८ मन पत्थर आ जाता है। बिजली के यंत्र के बल से यह माला चक्कर काटती है तो एक तरफ खान की ओर से पत्थर से भरी हुई बालटियाँ फैक्टरी में आती रहती हैं और दूसरी ओर से खाली होकर खान की तरफ वापिस लौटती रहती हैं। आकाश-ही-आकाश एक छोटे-से तार के सहारे १ बालटियों का झुण्ड जब द्रुत गति से चक्कर काटता है तो देखने वाला सहसा आश्चर्यचकित हो जाता है। बिचारे ग्रामीण मुसाफिर खासकर स्त्री तथा बालक घंटों तक टकटकी लगाए यह दृश्य देखते रहते हैं उनका अविकसित मस्तिष्क यह समाधान नहीं कर पाता कि—ऐसा काम हो कैसे सकता है? उन्हें क्या पता कि आज के युग की सबसे बड़ी महामाया महाशक्ति बिजली है, और

इसके उपासक है—बडे-बडे वैज्ञानिक-साइन्सदा। अस्तु, जो कुछ भी हो जाए—सब ठीक है, फिर आश्चर्य किस बात का ?

मनुष्य का यह चन्द हड्डियो का बना मस्तिष्क भी क्या गजब की चीज है ? हजार मनुष्य मिलकर भी बरसो मे इतना काम नही कर सकते, जितना कि वैज्ञानिक यत्रो के सहारे सौ-पचास आदमी कर डालते है। फैक्टरी के एक प्रामाणिक अधिकारी ने बताया है कि—'प्रति दिन आठ हजार मन सीमेण्ट तैयार हो जाता है। यह हमेशा का परिमाण है, यदि कभी अधिक चाहे तो इससे भी ज्यादा बनाया जा सकता है।' फैक्टरी को चालू हुए करीब तीन वर्ष हुए है, आप अनुमान लगा सकते है—कितना पत्थर सीमेण्ट बनकर शहरो मे पहुँच चुका है। मैंने अधिकारी से पूछा—'वहाँ खान मे पत्थर का क्या हाल है ?' उसने हँसकर कहा—महाराज, वहाँ क्या कमी है ? अभी तो समुद्र मे से चुल्लू भी अच्छी तरह नही भरी है।

फैक्टरी महाराजा पटियाला के राज्य मे है। सुना है उनका कुछ हिस्सा भी है, इसीलिए स्वर्गीय महाराजा के नाम से इसका नाम 'भूपेन्द्र सीमेण्ट फैक्टरी' रक्खा गया है। फैक्टरी एक कम्पनी की सम्पत्ति है। जिसमे कुछ पारसी है, कुछ अग्रेज है, भारत के प्रसिद्ध व्यवसायी वालचन्द हीराचन्द जैन भी हैं। भारत की गरीब जनता का पैसा सिमिट-सिमिट कर चद व्यक्तियो के पास जमा हो रहा है, जिसका सिवाय सग्रह के या भोग-विलास के कोई अर्थ नही। भगवान् महावीर ने अढाई हजार वर्ष पहले यत्रवाद के विरोध मे अवाज उठाई थी, मनु-स्मृतिकार भी स्पष्ट शब्दो मे इसके विरोधी है, आज के महापुरुष गांधी जी भी इससे प्रसन्न नही हैं। इसका कारण गरीब प्रजा का शोषण ही है। बीसवी शताब्दी के वैज्ञानिक युग ने यत्रवाद का मूलोच्छेद होना

तो दुष्कर है। हाँ इसका राष्ट्रीयकरण हो जाए तो भयकरता कम हो सकती है—गरीब प्रजा सर्व-संहारक शोषण से बच सकती है।

दुपहर का समय है। गुरुद्वारा में ठहरे हुए हैं। सिक्खों का नियम है कि नंगे सिर वालों को गुरुद्वारा के अन्दर, जहाँ गुरु ग्रन्थ साहब विराजमान होते हैं, नहीं घुसने देते। परन्तु ग्रन्थी जी बड़े भावुक हृदय के मालिक हैं। हमें आज्ञा मिल गई है कि जहाँ चाहें अन्दर आराम कर सकते हैं सन्तों के लिए कोई रुकावट नहीं। गुरुद्वारा के अन्दर एक ऊँची-सी वेदी है जिस पर एक छोटा-सा खटोला है उस पर गुरु का शरीर यानी ग्रन्थ साहब विराजमान है। गुरु ग्रन्थ साहब को सिक्ख गुरु का शरीर कहते है। वैसे तो सिक्ख मूर्तिपूजक नहीं हैं किन्तु मूर्तिपूजा के नाम से हिन्दू धर्म मे जो कुछ भी होता है वह सब गुरु ग्रन्थसाहब के प्रति किया जाता है। उसी तरह भोग होता है उसी तरह चँवर ढुलता है उसी तरह फूल चढ़ाए जाते हैं उसी तरह सुबह-शाम राग कीर्तन होता है अर्थात् सब-कुछ वही होता है फिर भी आश्चर्य है कि सिक्ख मूर्तिपूजक नही हैं। सिक्ख पथ के अन्तिम दसवें गुरु श्री गोविन्द सिंह जी के जब दो लड़के सरहिन्द मे मुसलमानो द्वारा जिन्दा दीवार मे चिन दिये गए, और दो लड़के चमकौर के युद्ध म लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए, तब कहते है—सिक्खो ने कहा कि—'महाराज ! आपके पीछे हमारा गुरु कौन होगा ? उस समय श्री गोविन्द सिंह जी ने कहा था कि—'प्रिय सिक्ख पथ के अनुयायियों आगे के लिए गुरु परम्परा का विच्छेद किया जाता है। अब से भविष्य में तुम्हारे एकमात्र गुरु ग्रन्थसाहब ही है। इन्ही की पूजा करना इन्हीं का पाठ करना इन्ही के गौरव की रक्षा के लिए अपने आप को हँसते-हँसते कुर्बान

कर देना ! गुरु अमर नही, गुरु की वाणी अमर है।' मैं जब कभी इस बात पर ध्यान देता हूँ तो मुझे गोविन्द सिंह जी के भविष्य ज्ञान पर चकित हो जाना पडता है। ठीक ही किया, अन्यथा आज सिक्ख पथ मे न मालूम कितने गुरु बन बैठते, गद्दी के लिए न जाने कितने लडाई-झगडे होते ? सिक्ख पथ की एकता सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गयी होती ? अलग-अलग आचार्यों एव पूज्यो के झगडे मे उलझा हुआ जैन समाज भी क्या कभी इस अमर सत्य को समझेगा ? कितना भयकर गृह-कलह है ! कितनी मूर्खतापूर्ण तू-तू, मैं-मैं है ! न किसी को धर्म की चिन्ता है और न समाज की, सब अपनी थोथी मान-बडाई की रस्सी को बल दे रहे हैं।

सन्ध्या का सुहावना समय है। सूर्य देवता पहाड के पीछे लुढक गए हैं, किन्तु उनके अस्तित्व का पता अब भी बादलो मे ऊपर की ओर उठती हुई तेजस्वी किरणें बतला रही हैं। पहाडी की छाया फैलती-फैलती झाझरा नदी के पार दूसरी पहाडी तक पहुँच चुकी है। सूर्य द्वारा खाली होने वाले रग-मच पर निशा-नटी के आने की तैयारियाँ मुकम्मिल हो चुकी है। परन्तु अभी पटाक्षेप होने मे कुछ देर है, इसलिए आओ, जरा इधर देख लें, ये दो छोटे-छोटे सिक्ख बालक गुरुद्वारा के खुले मैदान मे क्या कर रहे है !

कितना मजबूत गठा हुआ शरीर है ? और मुख पर सान्ध्य प्रकाश मे चमकती हुई लुनाई का क्या कहना ? सिर से नगे है, जटाजूट बँधी हुई है, कच्छ पहने हुए है, हाथ मे नगी तलवारें है, पटाबाजी कर रहे है। नगी चमचमाती तलवारो को घुमाते हुए जब दोनो बालक कभी पीछे हटते हैं, कभी आगे बढते है, कभी अगल-बगल को हटते है, कभी एक-दूसरे पर प्रहार करते है, तो

एक वीरतापूर्ण वातावरण तैयार हो जाता है। इधर-उधर बढ़े सिक्खों के मुँह से 'सत-श्री-अकाल' का नारा बुलन्द हो जाता है। मैं सामने बरामदे में बैठा हुआ देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि सिक्ख पंथ का गर्वीला इतिहास इन्हीं जैसे बालकों के हाथों तैयार हुआ है। सिक्ख पंथ बचपन से ही बालक में वीरता के भाव भरना शुरू करता है और जीवन के अन्तिम क्षण तक निरन्तर भरता ही चला जाता है। यही कारण है कि समय आने पर सिक्खों के नन्हे-मुन्ने बच्चे भी हँसते-हँसते धर्म पर बलिदान हो जाते हैं, किन्तु कायरता की ओर एक इंच भी कदम पीछे नहीं हटाते। पंजाब में सिक्खों का इतिहास बलिदान का इतिहास है, रक्त और अस्थियों का इतिहास है। सिक्ख गुरुओं में जहाँ नानक ने सिक्खों के हाथ में पहले-पहल माला पकड़ाई, वहाँ गोविन्द सिंह जी ने मुगल-काल में हिन्दुत्व की रक्षा के लिए तलवार भी पकड़ा दी। तलवार और माला के इस सुन्दर सम्मिश्रण ने सिक्ख जाति में वह जीवन डाला है कि आज इस गई गुजरी दुनियाँ में भी वह एक जिन्दा कौम है। उसकी आवाज एक सुनने लायक आवाज है। उसका विरोध उसके बलवान-से-बलवान शत्रुओं के भी छक्के छुड़ा देता है। अतीत की ओर नजर डालता हूँ तो जैन-गृहस्थ में भी कभी ऐसे ही थे। इनके कर्मठ हाथों ने भी मारवाड़, मेवाड़ और गुजरात के इतिहास में सुनहले पृष्ठ जोड़े हैं। धर्म और राज्य—दोनों को एक-सा अपनाने में ही जैन-धर्म की शान थी। परन्तु दुःख है कि अतीत—अतीत है, वर्तमान नहीं। आज के जैन-गृहस्थ में वणिग्वृत्ति का अंश अधिक बैठ गया है। अतः वह लक्ष्मी अर्जन के लिए जितना अधिक चिन्तित है, उतना जाति का गौरव बढ़ाने के लिए नहीं। आज उसका तेजस व्यक्तित्व मर चुका है, उसे फिर से जिन्दा बनाने की आवश्यकता है।

प्रतिक्रमण से निबट चुके हैं। दीवान भगतराम जी तथा कुछ अन्य सज्जनों से वार्तालाप हो रहा है। दीवान भगतराम जी पंजाब के एक अच्छे प्रसिद्धि प्राप्त इंजीनियर हैं, आप फैक्टरी में प्रारम्भ से ही एक ऊँचे पद पर काम कर रहे हैं। हाँ, तो आप का प्रश्न हो रहा है कि—"जैन-धर्म में परमात्मा का क्या स्थान है?" मैंने कहा—"जैन-धर्म में परमात्मा का स्थान अवश्य है, किन्तु वैसा नहीं, जैसा कि हमारे दूसरे पड़ोसियों के यहाँ है। जैन-धर्म मानता है कि आत्मा से अलग परमात्मा का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। आत्मा ही जब कर्म-बन्धन से आजाद हो जाता है, वासनाओं से सदा के लिए छुटकारा पा लेता है, तब वही परमात्मा बन जाता है। परमात्मा हमारे यहाँ एक व्यक्ति नहीं, बल्कि एक पद है, जिसे हर कोई आत्मा अपनी साधना के द्वारा पा सकता है"—"परमश्चासौ आत्मा परमात्मा।"

दीवान जी ने बीच में ही कहा—"इसका अर्थ तो यह हुआ कि कोई एक ईश्वर नहीं है, प्रत्युत अनेक ईश्वर हैं। जब यह बात है तो सृष्टि कौन बनाता है? कर्मों का अच्छा-बुरा फल कौन भुगताता है?" मैंने उत्तर दिया कि—"हाँ, 'एक ही ईश्वर है'—हम ऐसा नहीं मानते। स्वरूप की दृष्टि से, गुणों की दृष्टि से तो सब ईश्वर एक ही हैं, कोई भिन्नता नहीं। परन्तु व्यक्तिरूप से वे अनेक हैं, एक नहीं। अब रहा संसार के बनाने का प्रश्न। इसके सम्बन्ध में जैन-धर्म की मान्यता है कि संसार अनादि है। यह कभी न बना है, और न कभी नष्ट होगा। हालत बदलती रहती है, परन्तु मूल रूप कभी नष्ट नहीं होता। भूकम्प का एक विशाल धक्का लगता है, बड़े-बड़े रेगिस्तान समुद्र बन जाते हैं और समुद्र बन जाते हैं—रेगिस्तान। यदि कोई बुद्धिशाली सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान ईश्वर जगत का निर्माता होता तो यह ऊँच-नीच का

मेल क्यों ? अमीर-गरीब की भड़प क्यों ? पापी और धर्मात्माओं का संघर्ष क्यों ? ईश्वर, अपने बनाए संसार में बुराई क्यों रहने देता है ? अपनी चीज का खराब होना कौन बुद्धिमान पसन्द कर सकता है ? कर्मफल भुगताने का प्रश्न भी कुछ अर्थ नहीं रखता। जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं फल पा लेता है। एक आदमी शराब पीकर निश्चित समय पर बेहोश हो जाता है तो क्या नशा चढ़ाने के लिए किसी तीसरी शक्ति की आवश्यकता होती है ? कभी नहीं। यही हाल कर्मों का है। समय का परिपाक होने पर कर्मों का नशा खुद-ब-खुद चढ़ना शुरू हो जाता है। इस झंझट में व्यर्थ ही ईश्वर का क्या काम ? वीतराग दशा में यह सुख-दुःख पहुँचाने वाला राग-द्वेष कैसे हो सकता है ?

दीवान जी से जैन साधुओं के आचार-विचार आदि पर भी बहुत-सी बातें हुईं उन्हें लिखने का यहाँ अवकाश नहीं। उक्त चर्चा से दीवान जी तथा अन्य उपस्थित सज्जनों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। सब खुशी-खुशी नमस्कार करते हुए विदा हुए। सूरजपुर की अन्य भी बहुत-सी स्मृतियाँ अक्षरों का रूप लेना चाहती हैं किन्तु सबके लिए यहाँ स्थान कहाँ ?

—गय-पुष्प

○○

धर्मपुरा

१७ अप्रेल, १९४२। प्रात काल आठ बजे। मुनि-मडल और गुरुकुल के ब्रह्मचारियो का दल, धर्मपुरा की यात्रा कर रहा है। कसौली के पहाड से पीठ पीछे की ओर उतर रहे हैं, इतना उतार है कि शरीर को संभालना कठिन हो रहा है। वह भी दिन था, जब कसौली पहाड पर चढे थे, शरीर थक कर चूर-चूर हो जाता था, पसीनो का प्रवाह बह निकलता था, सांस की धौंकनी का स्वर तीव्र हो उठता था, और आज उतार है कि कुछ पता ही नही चलता, क्या हो रहा है ? हम पैरो को धीरे-धीरे थाम-थाम कर रखना चाहते हैं और वे अपने आप लुढकते से जा रहे हैं। उत्थान की अपेक्षा, पतन कितना सरल है—भौतिक भी और आध्यात्मिक भी !

सनौर आ गया है, यह अग्रेजो की बस्ती है। यहाँ अग्रेज जाति के सनाथ और अनाथ बालको का ही पालन-पोषण होता है। कितना ऊंचा रहन-सहन है बालको का ! प्रत्येक के साथ एक नौकर है, एक नौकरानी। वडी मस्ती से इधर-उधर गिरि-शिखरो पर घूम रहे हैं, तन-मन पर सर्वत्र भारत की शासकता का अभिमान लिए। इन्हे देखते ही मुझे कसौली के वे मजदूर बच्चे याद आ गए, जो खेलने खाने की कच्ची उम्र मे ही मज-दूरी के भयकर भार के नीचे निर्दयता से पीस दिए गए है, बच्चे

हैं या हड्डियों के पंजर। धौर्ले पत्थर की ओर बसी हुई पीठ और पट मिलाकर एक पतले-पतले पैर कदम-कदम पर सड़खड़ाते हुए। अहो कितनी दारुण मर्मान्तिक वेदना है? इन भारत के नौनिहालों का क्या अपराध है कि उगते अंकुर ही कुचले जा रहे हैं? यह भारत र क्या कुछ कम है कि गुलाम जाति में पैदा हुए हैं। भारत माता आज परतंत्रता की मजबूत शृङ्खलाओं से जकड़ी पड़ी है। अब उसकी सन्तान जितनी यातना भोग सके उतनी ही थोड़ी। हम में से कुछ चाहते थे कि बस्ती के अन्दर से होकर चलें। परन्तु किसी भी भारतीय यात्री को अन्दर जाने की आज्ञा नहीं है। ठीक भी है शासितों को इतना अधिकार कहाँ कि वे अपने शासकों के गन्दी-कूचों में घूम आएँ कुछ देख भाल पाएँ

मनीर के पहाड़ से उतर रहे हैं। ठंडक की क्या पूछते हो शरीर में कँप-कँपी पैदा होती है। दृश्य भी देखने ही लायक है—चमन के हजारों वृक्ष एक-से-एक ऊँचे खड़े हुए हैं मानों सब में ऊँचा बढ़ने की एक होड़-सी लगी हुई है। कहते हैं चील बड़ी दूर से बढ़ता है। पहल-से चीड़ ऐसे देखने में आए, जो सौ गज से भी कहीं ऊँचे होंगे। उनके सम्बन्ध में पहाड़ी लोगों का कहना था कि—ये चार-सौ पाँच-सौ वर्ष के ऊपर ही होंगे कम नहीं।' मैं सोच रहा था ये कब से यहाँ पत्थरों में पैर जमाए खड़े हैं? कितने कँप-कँपाने हेमन्त कितने मादकता-भरे बसन्त कितने आग बरसाने वाले ग्रीष्म कितने उमड़ते घुमड़ते धुआँ-धार बरसने वाले बरसात इनके ऊपर आए और गए? किन्तु ये सर्व सहा के सच्चे सपूत अभी तक खड़े हैं—सब कुछ सहते हुए, अपनी मस्ती में झूमते हुए हवा से खेलते हुए। पाँच-सौ वर्ष में दुनिया कितनी बदल गई है? बड़े-बड़े सम्राट् तूफान की

तरह आए और बबूले की तरह चले गए ! बडे-बडे सेनापति एक-एक इंच भूमि के लिए निरपराध मनुष्यो के खून की होली खेलते हुए आगे बढे और मौत के मुँह मे समा गए। अपने जीवन मे कितने उत्थान-पतन, कितने उतार-चढाव देखे है—इन बूढे वृक्षो ने न मालूम, कितने पहाडी राजा कुत्तो की तरह एक-दूसरे मे लडते-झगडते, कटते-मरते इन के नीचे मे गुजरे हैं—और ये खटखडा कर हँसे है, उनकी तुच्छ स्वार्थपूर्ण कमीनी हरकतो पर ! हजरत, ससार का अनवरत परिवर्तनशील इतिहास देखते-देखते इतने बूढे हो चले हैं, फिर भी बडी शान के साथ तने हुए खडे है, क्या मजाल कि जरा भी कही स कमर झुक जाए ! एक-एक चील के पास मे जीवन को बनाने के लिए इतने सुनहरी अनुभव मिल सकते है कि मानव-जाति का कल्याण हो जाए। किन्तु किसे अवकाश है, यहाँ इनके पास कुछ देर खडे होने का और जीवन सफलता के लिए कुछ अनमोल अनुभव प्राप्त करने का। प्रतिवर्ष न मालूम कितने हजार यात्री इनके बीच मे से दौडते गुजर जाते है, अपनी छोटी-सी घर-गृहस्थी की दुनियाँ के रग-विरगे स्वप्न-चित्र बनाते बिगाडते।

हाँ, तो धर्मपुरा आ गया है, बिल्कुल मामूली-सी बस्ती, छोटा-सा पडाव। नाम बहुत प्रसिद्ध था। अत मस्तिष्क ने एक सुन्दर कल्पना-चित्र बडी सावधानी से अपने कोमल ज्ञान-तन्तुओ पर खीच रखा था, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से टकराकर वह एक दम छिन्न-भिन्न हो गया, कुछ भी तो समानता न मिली।

धर्मपुरा की प्रसिद्धि का कारण—वह सेनीटोरियम है, जो पहाड के शिखर पर चीलो के सघन वन मे अवस्थित है। एक

जिन बम्बई के कुछ पारसी सज्जनों के हृदय में सहृदयता का झरना बह निकला उसका यह हुआ कि आज यहाँ लाखों की सम्पत्ति के विशाल भवन खड़े हैं। उपेरिक की चिकित्सा के लिए नित नये वैज्ञानिक प्रबन्ध किए जाते हैं प्रतिवर्ष सैकड़ों ओषध से निराश रोगी स्वास्थ्य लाभ करने के लिए आते हैं और घर जाकर अपनी गृहस्थी की दुनियाँ की भार-संभाल करते हैं। कितना शुभ संकल्प था उन लोगों का जिनके अन्तर्हृदय में यह पुण्य-कार्य सर्व प्रथम अंकुरित था।

हम लोग ऊपर अस्पताल देखने बड़े उल्लास से भरे हुए गए, किन्तु वहाँ जाकर चारों ओर बीमारों की दुनियाँ बसी देखी तो हृदय सहसा खिन्न हो गया। अच्छे-अच्छे सजीले और गठीले नौजवान सर्पेदिक से घिरे बिस्तरों पर पड़े थे कातर आँखों में जीवन और मरण की एक बेसी झलक लिए। कोई कहता था तीन वर्ष से मर रहा हूँ कोई कहता था दो वर्ष से कोई एक से। आखिर बिचारे अब तक झुके थे बीमारी का भार ढोते ढोते—जीवन और मरण के अन्तर्बीच झूलते झूलते। ऊपर ठीक हालत में दिखलाई देते थे किन्तु अन्दर से बिल्कुल खोखले हो चुके थे घुन खाए काठ की तरह। प्रतिदिन रेडियो पर देश विदेश के मधु भरे संगीत भी हवा पर सवार हुए आते हैं बीमारों की शोक भरी दुनियाँ को हर्ष भरी बनाने के लिए। लाउड स्पीकरों के सहयोग से सारा-का-सारा पहाड़ सहसा संगीतमय बन जाता है और प्रत्येक बीमार बिस्तरे पर पड़ा-पड़ा ही दूर-दूर तक दुनियाँ से सम्बन्धित हो जाता है। मैं नहीं समझता इस क्षणिक विनोद से क्या कुछ शान्ति होती होगी? जब कि हृदय के अणु-अणु में रोदन टक्करें मार रहा हो तब बाहर से ये हँसी-खुशी के कम्पित शब्द क्या काम आ सकते हैं? चारों ओर क्या-

लाओ से झुलसते हुए सतप्त शरीर पर पानी की एक-दो छीटो का कुछ अर्थ ? फिर भी सुन्दर वर्तमान और आशामय भविष्य के सुनहले तारो मे मन को उलझाए रहना, मनुष्य का प्रकृति-सिद्ध स्वभाव है। अत वही किया जा रहा है, भले ही फल कुछ भी हो।

वहाँ का प्रवन्ध वडा ही सुन्दर है। डाक्टर, कम्पाउन्डर,नर्स तथा अन्य कर्मचारी—सव के सव वडे प्रेमी एव मिलनसार हैं। अपनी ओर से वीमार की चिकित्सा एव परिचर्या मे किसी प्रकार की भी कमी नही छोडते, आगे जीने-मरने की वात मनुष्य के हाथो मे वाहर की चीज है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

गुजरातियो की साहित्यिक अभिरुचि भी खूव वढ-चढकर है। इधर-उधर घूमते-फिरते लाला रघुनाथ दास कसूर तथा मिस्टर दलाल भडुच वालो को दर्शन देते हुए एक ओर से जा रहे थे कि वडा ही भव्य एव विशाल भवन दृष्टिगोचर हुआ। पूछा, तो पता चला कि—'लायब्रेरी' है। हम मे भी कितने ही पुस्तको के पुराने मरीज थे, फिर क्या था, झट अन्दर दाखिल हो गए। अग्रेजी, उर्दू, हिन्दी का खासा अच्छा सग्रह था। परन्तु आश्चर्य तो हुआ, गुजराती साहित्य का सवसे अधिक सग्रह देखकर। श्रीयुत रमण और के० एम० मुन्शी के सुन्दर गेट-अप वाले उपन्यास अलमारी के शीशो मे से चमचमा रहे थे। गुजरात प्रान्त से इतनी दूर पजाव मे, वह भी एकान्त पहाडी प्रदेश मे गुजराती साहित्य का इतना सुन्दर एव विस्तृत सग्रह, वस्तुत गुजरातियो की सुप्रसिद्ध साहित्यिक अभिरुचि एव मातृ-भाषा की प्रगाढ भक्ति का परिचायक है।

उसे कतई अभीष्ट नही। हाँ, अहिंसा के वेष मे यदि कायरता अग्रसर होने लगे, तो गृहस्थ का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह हर किसी उपाय से अपने देश और जाति के सम्मान की रक्षा करे। जैन-धर्म मे गृहस्थ के लिए, व्यक्तिगत स्वार्थो को लेकर किसी निरपराध जीव को पीडा पहुँचाना निषिद्ध है। परन्तु देश या जाति की रक्षा के लिए मैदान मे उतरने से जैन-शास्त्र किसी गृहस्थ को नही रोकता। चन्द्रगुप्त-सम्प्रति और खारवेल जैसे जैन सम्राटो का अस्तित्व, अहिसा की प्रस्तुत व्याख्या पर ही जीवित रह सकता है अन्यथा नही । एक युवक ने पूछा—'आप साधुओ की जीवन-चर्या बडी कठिन है। क्या वीसवी सदी को ध्यान मे रखकर कुछ सुविधाएँ नही ले सकते ?' मैंने कहा—'सुविधाओ की कोई निश्चित परिभाषा ?' मानव जीवन मे सुविधा जैसा भ्रमपूर्ण शब्द, सभव है, दूसरा कोई न हो ? साधु जीवन मे अपनी मन कल्पित सुविधाओ को उसी प्रकार स्थान नही है, जिस प्रकार सिपाही के जीवन मे। सुविधा के नाम पर लोग आत्म-वचना करने लग जाते हैं, और एक दिन समाज की छाती पर असह्य भार बनकर वैठ जाते हैं। आज के ५६ लाख साधुओ की सख्या, क्या इसी भुला देने वाली सुविधा का दुष्परिणाम नही है ?' बातचीत वडे प्रेम के वातावरण मे समाप्त हुई। मैंने अनुभव किया कि यदि इस प्रकार सहृदयता के साथ बातचीत हो तो भारत मे साम्प्रदायिक कडवाहट कम हो जाए और लोग एक-दूसरे के अधिक-से-अधिक समीप, समीपतर आ जाएँ।

शिमला जाने वाली सडक के किनारे ही धर्मशाला मे ठहरे हुए थे। रातभर आसनो पर पडे करवटें वदलते रहे, जमकर नीद नही आई। सडक पर [illegible] विचित्र स्वर मे चीखे जा

मानती रही। शहरों के इन वैज्ञानिक सूत्रों ने पहाड़ों की शान्ति भी किस बुरी तरह भंग कर डाली है कि मनुष्य इतनी दूर जाकर भी सुख की नींद नहीं सो सकता। भारत की अमीरी सूमों को दान देने से सिमटी गरीब मार्ग-बन्धुओं की सहायता करने से सिमटी देश की औद्योगिक उन्नति करने से सिमटी—अर्थात् सब ओर से भलाई के क्षेत्र से सिमट-सिमटाकर आज मोटर पर सवार हो गई है और शिमला जैसे स्थान पर आने-जाने में शान्त वातावरण को अपनी चीत्कार तथा दुर्गन्ध से दूषित बनाने में पैदल चलने राहगीरों को तंग करने में अपने वैभव का प्रदर्शन कर रही है। भगवान् भारत के ये उच्छृंखल धनीमानी कब देश का हित समझेंगे? कब दीन-दुखियों की झोंपड़ियों के द्वार पर पहुँच कर सर्वस्व का बलिदान करेंगे?

—नव-युग

मैं अतीत और भविष्य की अपेक्षा अपने वर्तमान जीवन पर अधिक विश्वास रखता हूँ। न मुझे अतीत से कुछ लेना है और न भविष्य से। कभी-कभी अतीत की चिन्ता और भविष्य की कल्पना वर्तमान को दुर्बल देती है निष्प्राण बना देती है।

शिमला के पहाड पर

शिमला के सम्वन्ध मे वडी-वडी विभिन्न सुन्दर धारणाएँ, यात्रा-काल मे मस्तिष्क मे उठ-वैठ रही थी । दुनियादार लोगो से जो कुछ सुन पाए थे, वह शिमला को स्वर्ग समझने के लिए काफी था, किन्तु यहाँ आकर देखा गया तो कुछ और ही निकला । पचतत्र के उस सुप्रसिद्ध गीदड की दशा थी, जो एक विशालकाय ढोल को देखकर सहसा हर्षोन्मुख हो वोल उठा कि—'अहो, भोजन का विशाल भण्डार प्राप्त हो गया है, इससे तो महीनो गुजारा चलेगा ।' परन्तु विचारा ज्यो ही कठिन श्रम के वाद तना हुआ चमडा तोडकर अन्दर दाखिल हुआ तो सिवाय सूखे चमडे और लकडो के कुछ भी न पा सका ।

दिल लुभाने वाले प्रकृति के सुन्दर दृश्यो के लिए शिमला के पास केवल नकारात्मक उत्तर है । कभी होगा यह सव कुछ भी शिमला के पास, किन्तु आज तो जिधर भी जाइए, जिधर भी देखिए, उधर ही शिमला की छाती पर मनुष्य और उसका कृत्रिम सौन्दर्य ही छाया हुआ है । वडी अच्छी सडके हैं, वडे अच्छे वाजार हैं, वडी अच्छी कोठियाँ है, वस, सक्षेप मे शिमला का वैभव यहाँ समाप्त हो जाता है, आगे कुछ नही ।

शिमला पर क्या है ? थोडे से व्यापारियो को छोडकर वाकी क्लर्क और मजदूरो की दुनियाँ वसी पडी है । आठ हजार

क्लर्क तो एक वाइसराय के दफ्तर में ही हैं जिनको दिन भर स्याही, कलम और कागज से उलझे रहने के सिवाय शेष दुनिया का कोई पता नहीं। न वे धर्म के हैं और न कर्म के! अफसरों की चापलूसी करना, चन्द पैसे प्राप्त करना, साहिबी ठाट-बाट से रहना-सहना, बस जीवन समाप्त!

और ये मजदूर, उनकी क्या पूछते हो? न अच्छी तरह तन ढाँकने को कपड़ा है और न अच्छी तरह पेट भरने को अन्न! काश्मीर जैसे सुदूर स्थानों से यहाँ सरदी के मारे आए हैं, किन्तु होता क्या है? कुछ कमा लेते हैं बाकी दिन भर की थकावट को मिटाने के मिथ्या उद्देश्य से रात को शराब की सेवा में अर्पण कर देते हैं। कितनी दयनीय दशा है इनकी?

देखिए सूट-बूटधारी बाबू नामधारी सज्जन हाथ में चमड़े का छोटा सा बैग लिए किस शान के साथ अकड़ते चले जा रहे हैं। इनके सामने 'एक सेवा द्वितीय बाबू' का महत्त्व है, शेष दुनिया नगण्य, सबका सब मजदूर! दो मन से भी कुछ ऊपर भार मजदूर की पीठ पर लदा हुआ है, वह बेचारा हाँफता हुआ, पसीना से तरबतर, लड़खड़ाता हुआ छोटी-सी लकड़ी के सहारे बड़ी सावधानी के साथ नाप-नापकर कदम रखता हुआ चला जा रहा है—पुरुषार्थ बाबू जी के लक्ष्य की ओर! अहो बाबू जी सा चमड़े का बैग भी नहीं संभाल पाते हैं, इतने नाजुक! वह भी मजदूर की पीठ पर ही लाद दिया है। पीस डाला बेदर्द! एक बार ही मजदूर की उमंगों में भरी उठती नौजवानी को। अच्छा, क्या कभी भारत का मजदूर भी मनुष्योचित अधिकारों का उपभोग करता सुख-शान्ति के साथ जीवन-यापन कर सकेगा? या इसी प्रकार रक्त और दर्द के गर्म-गर्म आँसुओं में ही बेचारा पीसी कर पीसी भसमा रहेगा?

अरे यह कौन गाडी मे जुते चले आ रहे है? शक्ल से तो इन्सान मालूम होते है, पशुओ की जगह क्यो जुते हुए है? अजी, ये रिक्शा वाले हैं। शिमला का सब से बडा कलक रिक्शा गाडी भी है। वेचारे गरीव मजदूर रिक्शा गाडी मे जुते वेतहाशा नगे पैरो, पसीनो से तरवतर भगे जा रहे हैं! यदि जरा भी ठोकर खा जाएँ तो औंधे मुँह, सर के वल सडक पर गिरे और खून से लयपथ हो जाएँ। रिक्शा मे वैठी हुई है अग्रेज महिला और पास ही वैठा हुआ है एक हृष्ट-पुष्ट खूँख्वार कुत्ता, और उन्हे खीचे जा रहे हैं भारत के नौनिहाल! गरीवी की कितनी भीषण यत्रणा है कि मनुष्य, मनुष्य के नीचे ही नही, उसके कुत्तो के नीचे भी पिस रहा है। नमस्कार है, अमीरी! तुझे कुत्ते के आराम का तो ध्यान है, किन्तु उस भूख के सताए मनुष्य नामवारी अपने जाति भाई का कोई ख्याल नही कि उसके प्राणो पर क्या गुजर रही है?

गरीव रिक्शा वाहक वडी बुरी हालत मे है! घर वाले आशा लगाए वैठे है कि शिमला गए है, कुछ कमाकर लाएँगे। परन्तु यहाँ ये शराव के व्यसन मे फँसे पडे है। जो कुछ कमाते है, इसकी भेंट चढा देते है और कुछ दिनो मे ही शरीर से वेकार होकर घर आ वैठते है। उस दिन सजोली की सडक पर रिक्शा वाले को शराव मे मदहोश पडे देखा तो अन्तरात्मा सिहर उठी। उलटी-पर-उलटी कर रहा था, पेशाव मे अधोवस्त्र पजामा भीग रहा था और मरणासन्न व्यक्ति के समान वडी बुरी तरह एडियाँ घिस रहा था। आने-जाने वाले लोगो की ठोकरें और गालियो की वौछार अलग! वीच-वीच मे होश आने पर कुछ अस्फुट शव्दो मे वडवडा उठता था—'है कोई हिन्दू भाई, जो मुझे उठाए!' किन्तु उस मूर्ख को क्या पता कि आज का हिन्दू भाई, पतित को दो ठोकरें लगाकर और अधिक पतित वनाने के लिए तो तैयार है,

परन्तु किसी की सहायता करना पापी के प्रति घृणा न कर प्रेम करना वह नहीं जानता। प्रत्युत यह काम तो आज उसके लिए महानिमहान महापाप है! सड़क पर बीसियों लोग आ-जा रहे थे पर कोई उसे उठाने के लिए और उठाकर ठिकाने पर पहुँचाने के लिए तैयार न था।

आओ जरा इधर शिमला के वैभव का भी दर्शन कर लें। माल रोड शिमला का अभिमान है। बड़ी-बड़ी विशाल दूकानें हैं और दूकानों के अन्दर बड़े-बड़े शीशों के पीछे जिधर देखो उधर ही यूरोप भरा पड़ा है। न दूकानों की बनावट भारतीय है, न सजावट भारतीय है और न सुन्दर माल ही भारतीय है! चमड़े से भारतीय किन्तु वेषभूषा और बोलचाल से पूरे यूरोपियन! अपने चन्द पैसों के लोभ के लिए बड़ी बेदर्दी से भारतीय व्यापार का गला काट रहे हैं।

मालरोड पर यौवन शाम के समय आता है, जब कि अंग्रेज युवतियाँ अर्धनग्न दशा में बड़ी सज-धज के साथ तितलियों की तरह फुदकती हुई सौदा खरीदने आती हैं। आज इंगलैंड पर मृत्यु की काली घटाएँ घुमड़ रही हैं, बीसवीं शताब्दी के रक्तपायी भस्म 'हिटलर' का चारों ओर आतंक छाया हुआ है। एक के बाद एक अनेक देशों की स्वतंत्रता देखते ही देखते स्वप्न हो गई है। प्रतिदिन हजारों नौजवान युद्ध के मैदान में खून की होली भस्म हुए व राम काल के गाल में पहुँच रहे हैं। इंगलैंड का बच्चा-बच्चा विजय पाने की धुन में अपने राष्ट्र के लिए सर्वस्व निछावर करने को तैयार है। परन्तु यहाँ भारत में अंग्रेज महिलाएँ अपनी उन्हीं पुरानी रंग रेलियों में मस्त हैं। वही सजधज, वही राग-रंग वही नाज-नखरे, वही रस भरे कहकहे! युद्ध में विजय पाने के

लिए देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपने जीवन मे विलासिता के स्थान मे कर्मठता लाने की आवश्यकता है।

अंग्रेज महिलाओं की ही क्या बात है? यहाँ तो भारतीय देवियाँ भी इसी रंग मे रंगी हुई है। जन्मना भले ही भारतीय हो, किन्तु कर्मणा तो यूरोपियनता को पीछे धकेल रही है। नीचे से ऊपर तक नजर डालिए, भारतीयता की निशानी के रूप मे, उनके पास सिर्फ शरीर पर का रंगदार चमड़ा बचा है, और कुछ नही। चमड़े पर वश नही है, अन्यथा क्या पता यह भी बदल दिया जाता। हाँ, पाउडर आदि के द्वारा इसे बदलने का प्रयत्न अवश्य किया जाता है, पर क्षणिक सफलता के सिवाय अभी तक स्थायी सफलता नही प्राप्त हो सकी है। यह गुलाम देश की नारी जाति है, जिसे अपना देशी रहन-सहन, वेष-भूषा, खाना-पीना अच्छा नही लगता। वह अपने आप को शासक जाति के रंग-ढंग मे ढाल कर ही भाग्यशालिनी समझे हुए है। बेचारे पतिदेव क्लर्की की दुनिया मे महीने भर कलम घिसकर जो कुछ कमा पाते है, उसे जल्दी ही ठिकाने लगा देने के लिए श्रीमती जी पहले से ही निश्चित योजनाएँ तैयार रखती हैं।

देवियो के फैशन के कारण शिमला के युवको की मानसिक दशा भी बड़ी लज्जास्पद है। जिनेन्द्र गुरुकुल पचकूला के प्रधान अध्यापक श्री त्रिपाठी जी ने, उस दिन सध्या समय दो युवको को अंग्रेजी मे बात करते सुना तो सिर लज्जा से नीचे झुक गया, हृदय आत्म-ग्लानि से भर उठा। उनमे से एक कह रहा था— 'यार' माल रोड पर चला न? वहाँ एक से एक सुन्दर लड़कियों का दीदार हासिल होगा।' ओह, जीवन का कितना भयकर पतन है! क्या यह युवक, जिस पर भारत माता की आँखे अपनी

स्वतंत्रता के लिए लगी हुई हैं केवल अपने देश की बहन-बेटियों की रूप-सुधा का पान करने के लिए ही जीवित है!

शिमला के कुछ हम ही ऐसे थे जिनसे मैं आवेश में आ गया हूँ। अन्यथा एक सिरे से सभी भारतीय युवकों को लाञ्छित करने का उद्देश्य मेरा कदापि नहीं है। शिमला में भी सच्चिदानन्द जैसे आर्टिस्ट युवक भी हैं जिन्होंने अपनी कलम की नोंक से सुदूर यूरोप तक में भारत माता का मुख उज्ज्वल कर दिया है। श्री सच्चिदानन्द जी नालागढ़ नरेश की ओर से शिमला में स्टेट की जायदाद के प्रबन्धक हैं। ज्यों ही काम से अवकाश पाते हैं सूक्ष्म लेखन-कला की साधना में बैठ जाते हैं—शान्त मौन निश्चल एकाग्र! अभी कुछ समय हुआ आपने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्व-विश्रुत पुस्तक 'गीताञ्जलि' एक कार्ड पर लिखी है।

आपने इस दिशा में सूक्ष्म-लेखन के अब तक क्या भारतीय और क्या यूरोपियन—सब रिकार्ड मात कर दिए हैं। आश्चर्य है कि इसके लिए आप बीसवीं सदी के किसी भी वैज्ञानिक साधन का प्रयोग नहीं करते हैं। वही साधारण कलम है वही मामूली काली स्याही है बिना किसी चश्मे या शीशे की सहायता के ही यह सब कुछ होता है। हम यात्रियों के एक सच्चिदानन्द जी परिचित हैं और भी न जाने कितने कला के साधक शिमला के एकान्त प्रदेशों में छिपे हुए विभिन्न कलाओं की उपासना में लग रहे होंगे।

शिमला के दर्शनीय स्थानों में गिरजा का महत्व अच्छा है। प्रोटेस्टण्टों का गिरजा ऊपर के मैदान में है, जोकि 'गिरजा का मैदान' के नाम से ही प्रसिद्ध है। गिरजा बड़ा सुन्दर, भव्य एवं

विशाल है, किन्तु कला की दृष्टि से यहाँ कोई विशेषता नही है। हाँ, स्वच्छता एव शान्ति का वातावरण खासा अच्छा है। गिरजा मे एक वाद्य है, जिसका नाम 'ओरगन' है। सौ रुपए मासिक पर एक अँग्रेज महिला वाद्य बजाने के लिए नियत है। यह वाद्य हाथ मे नही, बिजली मे बजाया जाता है। रविवार के साप्ताहिक सत्सग मे जब यह ओरगन बजता है, तो तीन हजार स्वरो का यह भीमकाय वाद्य, अपने सुमधुर गभीर घोष से आकाश-पाताल एक कर देता है। गिरजा मे बैठने वालो के लिए अच्छी व्यवस्था है। प्रत्येक बेंच बराबर है, न कोई ऊँचा और न कोई नीचा। वाइसराय और कमाण्डर-इन-चीफ की सीटे सब से आगे है, किन्तु वे भी औरो के बराबर ही है, ऊँची नही। यह भी नियम नहीं है कि इन पर वाइसराय और कमाण्डर-इन-चीफ के अतिरिक्त दूसरा कोई बैठ ही नही सकता। जब वाइसराय और कमाण्डर-इन-चीफ उपस्थित नही होते है, तब दूसरे साधारण सज्जन भी आकर इन सीटो पर बैठ जाते हैं। प्रस्तुत नियम से मेरा भावुक हृदय अधिक प्रभावित हुआ। धर्म-स्थानो मे भी अपने अहत्व पर लडने-झगडने वाले भारतीय सज्जन, जरा इस ओर लक्ष्य दें।

रोमन कैथोलिक चर्च कला की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। वहाँ पहुँचे तो हमे ऐसा मालूम हुआ, जैसे थोडे मे हेर फेर मे किसी हिन्दू-मन्दिर मे ही पहुँच गए हो। प्रभु ईसा की प्रस्तर मूर्ति, मुख पर शान्ति और करुणा के दिव्य भाव लिए बडे शान्त रूप से खडी थी। पास ही मरियम थी, जिनकी गोद मे हँसते हुए बाल ईसा थे, जो ठीक यशोदा की गोद मे बाल कृष्ण की झाँकी दिखला रहे थे। सन्त फ्रासिस की मूर्ति, कला की दृष्टि से मुझे सर्वोत्तम मालूम हुई, उनके अग-प्रत्यग पर कठोर तपश्चरण की छाप स्पष्टत नजर आ रही थी। फादर ऐगनल्स अपनी टूटी-फूटी

हिंदुस्तानी में हमें सब का परिचय बता रहे थे और बताते हुए गद्‌गद् होकर मूर्तियों के सामने घुटने टेक कर नमस्कार करते जाते थे। उन्होंने चन्दन की बनी हुई मरियम की एक मूर्ति दिखलाई और कहा कि यह वह मूर्ति है जो चार-सौ वर्ष से नासिक के पास किसी हिन्दू मन्दिर में दुर्गा के भ्रम में पूजी जाती रही। सिन्दूर के चिन्ह अब भी मूर्ति पर ज्यों के त्यों देखे जा सकते हैं। मनुष्य की भ्रान्ति का कुछ ठिकाना है? भारतीय मस्तिष्क देवी-देवताओं का गुलाम जो ठहरा!

फादर ऐमनस्स का शिष्टाचार एवं सहृदयता-पूर्ण व्यवहार वास्तव में धर्म के गुरु के लिए अपनाने की चीज है। आप चार महीने हुए, भारत में आए हैं। हिन्दुस्तानी सीखने के लिए अत्यधिक परिश्रम कर रहे हैं फलत: अपना भाव प्रगट करने और दूसरों का भाव समझने लायक काम-चलाऊ हिन्दी सीख गए हैं। मैंने उनके हिन्दी भाषण की प्रशंसा करते हुए दाद दी तो बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे कि —"अच्छा तो मैं अवश्य ही हिन्दी भाषा सीख जाऊँगा! आपका आशीर्वाद चाहिए। कुछ देर हमने भी उनको जैन-धर्म का परिचय कराया। उन्होंने बड़े प्रेम से सुना और कहा— 'अच्छा जैन-धर्म इतना ऊँचा दार्शनिक धर्म है! मैं अवकाश जैन-धर्म के सम्बन्ध में भी अध्ययन करूँगा।" हमारे केश-लोचन की बात सुनकर तो वे एक-दम हैरान हो गए—'मनुष्य और इतनी तितिक्षा हुई है!

शिमला के प्राकृतिक दृश्यों में अभी एक झाबू का टोला बचा हुआ है। अभी तक अमीरों की दृष्टि यहाँ नहीं पहुँची है, अन्यथा यहाँ पर भी आलीशान कोठियों का तांता लग जाता और यहाँ-वहाँ मनुष्य अपनी गंदगी बिखेरता नजर आता? हाँ तो मुनि अभयम और ब्रह्मचारी इस झाबू पर चढ़ाई करने चल पड़ा है।

वडी कठिन चढाई है, सांस उफनता है, पसीना आता है, शरीर लडखडाता है, किन्तु ज्यो ही शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन का झोका शरीर के आकर लगता है, तो थकावट एक-दम दूर हो जाती है, नयी स्फूर्ति, नयी चेतना रोम-रोम मे जाग उठती है।

मार्ग मे यह अँगरेज वालक, पाँच-छ वर्ष का, मुख-पत्ती की ओर सकेत करके पूछ रहा है कि - 'वावा! यह क्या लगाया हुआ है?' कहिए, इसे मुख-वस्त्रिका की क्या फिलासफी समझाएँ? इसकी जिज्ञासा-वृत्ति पर हमे वडी प्रसन्नता है, किन्तु यह पूर्ण तथ्य को समझ कैसे सकता है? मैंने सक्षेप मे समझाते हुए कहा 'भइया! हम जैन साधु है यह हमारी निशानी है' इतने मे ही एक प्रौढ अँग्रेज महिला इधर आ निकली है इनको भी मुख-वस्त्रिका के सम्वन्ध मे उत्कट जिज्ञासा है। हाँ, इन्हे खूव अच्छी तरह समझा दिया है, और इस पर ये वडी प्रसन्न है।

हाँ, तो वीच की झझटे छोडिए, सीधे चलिए ऊपर झाखू की चोटी पर! देवदारु के आकाश तक ऊँचे उठे वृक्षो के नीचे मे, हम वामनावतार के भाई-वन्धु, वडे उल्लास से ऊपर चढ रहे है! इधर न झरने हैं, न सघन झाड-झखाड है, न विकट चट्टान हैं। देखने के लिए जिधर भी देखिए, उधर देवदारु ही देवदारु नजर आते है, एक-दो नही, दस-वीस नही, सौ-पचास नही, हजारो की तादात मे। देखने मे वडे भले मालूम होते हैं—विल्कुल सीधे, न कही मोड-तोड, न कही गांठ-गठूलड!

अच्छा तो अव ठेठ चोटी पर पहुँच गए है। वन्दरो के झुण्ड के झुण्ड किलकारियाँ भरते हुए दौड रहे है, वृक्षो की नन्ही-नन्ही

शाखाओं पर झूम रहे हैं। हमें देखकर और अधिक कलाबाजियाँ खाने लग गए हैं। गुरुकुल पंचकूला के भण्डारी बाबूराम जी पहले ही इनकी भेंट-पूजा लेकर आए हैं। भुने हुए चनों का थैला हाथ में है और बाँट रहे हैं मुट्ठी भर भर कर चने वानर सेना के सामने। भण्डारी जी चारों ओर से बन्दरों से घिरे हुए हैं, बन्दर आपस में लड़ झगड़ रहे हैं किन्तु उन्हें कोई कुछ नहीं कहता। भला कहीं अपने स्नेही यजमान से भी लड़ा झगड़ा जाता है? हाँ एक-दो घुड़कियाँ दे देना यह तो इनका जन्म-सिद्ध अधिकार है इसे तो न छोड़ें क्या करें? — — वह देखिए! बूढ़ा बन्दर, जो रंग-ढंग से वानर सेनापति मालूम होता है किस निर्भयता के साथ बेपरवाही से भण्डारी जी की ओर बढ़ रहा है! भण्डारी जी ने चने की मुट्ठी सामने खोल दी है और वह टाँगों के सहारे किस अ-तकल्लुफी के साथ हाथ पर ही मुँह लगाए खाने लगा है। हाथ पर के चने समाप्त हैं भण्डारी जी खिसकना चाहते हैं किन्तु यह हजरत खिसकने क्यों देगा? देखिए, किस होशियारी से झटपट थैली का पल्ला पकड़ लिया है और अपनी अव्यक्त भाषा में होठ हिलाते हुए कुछ कह-सा रहा है—'बस इतना ही? अरे भाई कुछ और लाओ' गुरुकुल के ब्रह्मचारी तथा अध्यापक ठहाका मार कर हँस पड़े हैं—'खूब कही दानवीर जी! वानर भले ही हो किन्तु इसकी बुद्धि के जौहर तो मनुष्यों तक को मात कर [illegible] हैं।' अब भण्डारी जी ने थैला उलट कर बूढ़े कपिराज को विश्वास दिला दिया कि—हाथ के साथ ही यह भी खाली हो चुका है अब स्नेह-विराम को कुछ नहीं है तो बिचारे बन्दर उधर चलते बने। यह सब और वानर का अपूर्व स्नेह सम्बन्ध अब भी जब कभी स्मृति-पथ पर उद्भूत हो जाता है तो अन्तर्हृदय सहसा खिल खिला उठता है।

भाखू के उत्तुग शिखर पर से हिमालय का दर्शन हमारे लिए बडा ही कौतुहलपूर्ण है। अहो, वे सुदूर हिमजडित श्वेत मुकुट धारण किए एक-से-एक ऊंची नुकीली चोटियाँ किस प्रकार सूर्य किरणो के प्रकाश मे झलमला रही हैं ? मैं, त्रिपाठी जी और अन्य मुनि, एक अतीव सुदीर्घ काय देवदारु के नीचे खडे, एक टक हिमाच्छादित गिरिशृगो की ओर देख रहे है—अहा, कितना महान् आकर्षण है, गिरिराज हिमालय की दुरूह चोटियो पर ! प्रतिवर्ष सैकडो देश-विदेश के पर्वतारोही यात्री आते हैं, अपनी मानवोचित सामर्थ्य से वढकर चढने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु अन्त मे निराश होकर वापस लौट जाते हैं। अभी तक ऐवरेस्ट का पवित्र शिखर सर्वथा अस्पृष्ट है मनुष्य के अपवित्र पैरो के स्पर्श से ! वहाँ पहुँच कर तो क्या, हमे तो यही से मामूली झलक के दर्शन मात्र से ही कवि-कुल गुरु कलिदास का यह कथन सर्वथा सत्य मालूम होता है—"अस्त्युतरस्यां दिशि देवात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज ।' वास्तव मे हिमालय देवात्मा ही है !

शिमला यात्रा की कहानी समाप्त है। यो तो आँखो ने वहुत कुछ देखा-भाला है, किन्तु कागज पर उतारने के लिए कोई विशिष्टता नही रही है। शिमला स्वर्ग होगा अमीरो के लिए, किन्तु अपने लिए तो वह एक साधारण गाँव का-सा काम भी न दे सका। जैन धर्मशाला मे ठहरे हुए थे, प्रतिदिन शौच के लिए सुवह-शाम वारह मील की यात्रा करना पडती थी, कही पास मे साधु मर्यादा के अनुसार जगह ही नही मिलती। लाला वशीलाल और वावू आनन्द स्वरूप जी आदि कितने ही सज्जनो का आग्रह था कि कम-से-कम महीने भर तो ठहरें। किन्तु हमे महीना तो दूर, एक पक्ष रहना भी दूभर हो गया। दस दिन ठहर कर पुन: देश की ओर उग्र विहारी हो गए।

संक्षेप में शिमला का इतिहास भी बता दूं। शिमला का पहाड़ पहले क्योंथल स्टेट का था, किन्तु जब गोरखों के उपद्रव से पहाड़ी लोग तंग आए हुए थे तो उन्होंने रक्षा के लिए अंग्रेजों से प्रार्थना की। अंग्रेज इस समय भारत में अपने साम्राज्य की जड़ों को मजबूत करने में लगे हुए थे। अतः अंग्रेजों ने झटपट सहायता दी और पहाड़ी राजाओं को गोरखों के आतंक से मुक्त कर दिया। जब सैनिक व्यय का प्रश्न पेश हुआ तो तत्कालीन क्योंथल नरेश ने कहा— 'रुपया-पैसा तो देने के लिए है नहीं, हाँ चाहो तो जमीन ले लो। दीर्घदर्शी अंग्रेजों ने कुछ कागजी शर्तों के अनुसार यह शिमला का पहाड़ ले लिया। उस समय राजा को क्या पता था कि शीघ्र ही दुनिया का नक्शा इस प्रकार बदल जाएगा कंकड़ पत्थर का सोना बन जाएगा। आज शिमला स्वर्ग है। भारत की ग्रीष्मकालीन राजधानी है। शरद् काल में भारतीय प्रजा की आँखें देहली की ओर लगी रहती हैं तो ग्रीष्म-काल में शिमला की ओर। शिमला के उस एकान्त शिखर पर अवस्थित भीमकाय भवन में भारत का भाग्य विधाता वाइसराय न मालूम भारत के लिए क्या कुछ भली-बुरी सोचा करता है, सोच को वाणी का रूप दिया करता है और अन्त में वाणी को कागज का रूप दे डालता है।

—सोभिना त्रिपाठी

गद्य-काव्य

श्रमरा-सस्कृति का श्रमर देवता

"हे श्रमण-सस्कृति के श्रमर देवता !
तू वीर था, महावीर था !
मन के विकारो से—
लडने वाला प्रचण्ड योद्धा !"

और हाँ,

"तू वर्द्धमान भी तो था,
सतत उत्तरोतर बढने वाला !
तू ने आगे बढ कर—
पीछे हटना, कभी जाना ही नही !"

हाँ, तो—

"तू जब आया,
भारतवर्ष घोर अन्धकार से घिरा था !
अमावस की काली रात छाई हुई थी !"

भारत के—

"धर्म पर,
कर्म पर,
सस्कृति पर,
सभ्यता पर।
कुछ लोग अन्धकार को ही प्रकाश मान बैठे थे !"

और—

कुछ लोग ऐसे भी थे
जो प्रकाश की खोज में इधर-उधर भटक रहे थे।
मानव-जीवन की सब-की-सब पगडंडियाँ
अन्धकार में विलुप्त हो चुकी थीं।
भटके यात्रियों को नहीं मिल रही थी
जीवन की सही राह।

ऐसे समय—

तू सौभाग्य से आया
दिव्य प्रकाश बनकर आया।
मानवता के पथ पर
जगमग जगमग करता
अन्धकार से लड़ता।

साथ ही—

तू जात-पाँत से लड़ा
वर्ण-व्यवस्था से लड़ा
ईश्वर से लड़ा
देवी-देवताओं से लड़ा
भोग-वासना से लड़ा और
निष्क्रिय त्याग से भी लड़ा!

किं बहुना?

तुझे सब प्रकार के पाखण्ड और
अन्धाचार से लड़ना पड़ा
व बड़े झंझावात आए
प्रचण्ड तूफान भी आए।

परन्तु फिर भी—

"तू बुझा नही,
कँप-कँपाया तक नही !"

प्रत्युत—

"अधिकाधिक प्रकाशमान होता चला गया !
तेरे ज्ञानालोक की प्रभा दूर-दूर तक फैली,
सब दिग-दिगन्त आलोकित हो उठे !
भूले-भटको ने राह पाई, और
अन्धकार पर प्रकाश विजयी हुआ !"

परन्तु तू तो—

"अरिहन्त था, जिन था !
तेरी सस्कृति थी—
विजय की सस्कृति !
तेरी सभ्यता थी—
विजय की सभ्यता !"

इसके अतिरिक्त,

"मनुष्य के शत्रु और मित्र,
तुझे दीख पडे—
मनुष्य के अन्दर मे ही !"

अस्तु,

तू ने आवाज लगाई—
"मनुष्य ! तू अपना शत्रु आप है,

और—

अपना मित्र भी आप ही है !
जब तू उन्मार्ग पर चलता है,
तब तू अपना शत्रु होता है !

और—
जब तू सन्मार्ग पर चलता है
तब तू अपना मित्र होता है।
फिर बता—
तुझे क्या होना है—
'शत्रु या मित्र ?"
बाहर के शत्रुओं से लड़ने में कुछ लाभ ?
कुछ नहीं तनिक भी नहीं।
यदि लड़ना है तो—
अपने आप से लड़
अपने शरीर से लड़
अपनी इन्द्रियों से लड़ और
अपने मन से लड़ !
परन्तु—
इनसे भी क्या लड़ना है ?
इनकी वासनाओं से लड़ !
जब तू शरीर-इन्द्रिय और मन से ऊपर उठेगा
तब तू, ईश्वर बनेगा परमात्मा बनेगा !
और—
बनेगा देवताओं का भी देवता ?
किन्तु तुझे तो—
'आज भी सोई भावना को जगाना है !
और—
वह जाग सकेगी तेरी ही आवाज से !
आज मानवता को दानवता मे घेर लिया है,
अन्धकार ने प्रकाश को दबोच लिया है !

हे श्रमण-सस्कृति के अमर देवता !
यदि आज मनुष्य—
तेरी आवाज सुन सके,
तेरी वताई राह पर चल सके,
तो वह—
दानवता पर विजय प्राप्त कर सकता है !
अन्धकार को प्रकाश मे वदल सकता है !
नरक को स्वर्ग का रूप दे सकता है !
और,
वन सकता है—
अपने भाग्य का निर्माता,
ईश्वर,
परमात्मा,
और—
देवताओ का देवता !

जिस धर्म, समाज तथा राष्ट्र के आदर्श केवल नारे वनकर ही रह जाते हैं, उसकी अन्तरात्मा मर जाती है। उससे किसी अच्छे भविष्य की आशा रखना—दुराशा है, मिथ्या कल्पना है।

१४

मैं प्रबुद्ध-विबुद्ध हूँ,
अज्ञान है मुझ में कहाँ ?
सब ओर पूर्ण प्रकाश मेरे
ज्ञान का फैला यहाँ !
अन्तःकरण से पाप-पूरक
भावनाएँ भग गई
अध्यात्म पूर्ण प्रसारिणी
सद्भावनाएँ जग गई ।
अद्भुत मम संकल्प की
हद शक्ति रुक सकती नहीं !
जो विचारूँ
सो करूँ
क्या बात हो सकती नहीं !
विश्व का अणु-अणु खड़ा है,
बस मेरे अधिकार में ।
सम्राट् मैं
विराट मैं
परिराट मैं
संसार में ।
संसार में कोई नहीं !
जो मुझ पै निज-शासन करे !
नरक दे या स्वर्ग दे !
पापी तथा पावन करे !

मैं स्वय ही हूँ,
स्वय के भाग्य का सष्टा अटल,
वज्र अकित है,
मेरी कर्त्तव्य की सीमा अचल।
आफतो की बिजलियाँ
अविराम-गति गिरती रहे!
खण्ड तनु हो,
तथा निज रक्त की
धारा बहे!
भय भ्रान्त होकर
लक्ष्य से,
तिलमात्र हट सकता नही!
उत्साह का
दुर्दम्य तेज पुञ्ज,
घट सकता नही।
मैं चढ रहा हूँ,
नित्य

मैत्री जीवन की शान्ति का सर्वोत्तम वरदान है। उसकी उत्पत्ति और विकास विश्वास में है। मैत्री-भाव के विस्तार के लिए आग्रह को छोड़ देना अति आवश्यक है। जो कार्य मैत्री प्रेम और सद्भावना से बन सकती है वह रक्त-पात और हिंसा से नहीं बन सकती।

वाणी को कटु से शिक्षा को मान और अपमान से भाई को प्रमाद से बुद्धि को लोभ से मन को काम से चित्त को अशुभ चिन्तन से शरीर को आलस्य से धर्म को कुसंग से सदा बचाते रहना चाहिए।

किसी के उच्च पद को देखकर उसकी सफलता का अन्दाजा लगाना कठिन है। सफलता का अन्दाजा तो उस कार्य की सफलता और बुद्धि में है, जिसके कारण उसको यह पद मिला है।

काव्य की भाषा में ऋतु-परिवर्तन को पृथ्वी की वेश-भूषा का परिवर्तन मात्र कह सकते हैं। पृथ्वी भी समय-समय पर परिधान परिवर्तन करती रहती है।

गरीबी ऐसा बड़ा पाप है और इतने अधिक प्रलोभन एवं दुःखों से ओत-प्रोत है कि मैं जी-जान से चाहूँगा कि तुम सदैव इससे बचकर रहो।

कहानी

वीर माता

आज तुम्हें एक वीर माता का जीवन सुनाना है। वह जैन थी, जाति से ओसवाल। दुर्भाग्य के कारण इतिहास में उसका नाम रह गया है। अस्तु, हम नहीं जानते, उसका क्या नाम था ? परन्तु उसका वह वीरता पूर्ण कार्य सदा अजर-अमर रहेगा। उसे कोई भुला नहीं सकता।

अब से करीब चार-सौ वर्ष पहले की बात है। राजपूताना देश के मुकुट-मणि चित्तौड़ में राजा विक्रमाजीत राज्य करता था, वह सिसोदिया वंश का था। राणा का विरुद धारण करता था। परन्तु आचरण से हीन था। बड़ा अत्याचारी, बड़ा दुष्ट था। प्रजा तंग आ गई। अन्दर ही अन्दर विद्रोह की आग सुलगने लगी।

बे-खबर नगर सेठों और मंत्रियों का परामर्श हुआ। बिना किसी रक्तपात के चतुराई के साथ विक्रमाजीत को गद्दी से उतार दिया गया। युवराज उदयसिंह उस समय बहुत छोटे थे। पता नहीं, वे अभी पालने में अँगूठे चूसते हुए क्रीड़ा करते थे। अतएव राज्य-प्रबन्ध के लिए विक्रमाजीत के चचा बनवीर को गद्दी पर बैठा दिया गया। तब तक, जब तक युवराज उदयसिंह वयस्क न हो जाएँ, राज-कार्य सम्भालने योग्य न हो जाएँ।

राजा का सिंहासन बहुत बुरा है। उस पर बैठ कर अच्छे-अच्छे व्यक्ति भी राक्षस हो जाते हैं। बनवीर कुछ दिन तो न्याय-

नीति के साथ राज-कार्य करता रहा परन्तु धाये चलकर उसके हृदय में स्वार्थ का भूत हुड़दंग मचाने लगा। 'मैं ही क्यों न सदा के लिए राजा बन जाऊँ? उदयसिंह यदि राजा बना तो क्या मुझे फिर यों ही इधर-उधर गुलामी में चक्कर काटना पड़ेगा?—इन दुर्विचारों में वह एक बार बह गया सो—बह गया फिर लौट न सका। इधर-उधर से कुछ लोलुप समर्थ अधिकारी भी आ मिले। नर राक्षसों का गुट मजबूत हो गया।

अंधेरी रात में बनवीर नंगी तलवार लेकर राज महल में पहुँचा। सोते हुए विक्रमाजीत का एक ही वार में काम तमाम हो गया। अन्तःपुर करुण रोदन से हा-हाकार कर उठा।

राजमहल के पास ही कुछ दूर, पन्ना धाय रह रही थी। रोने की हृदय-बेधक ध्वनि उसके कानों में पड़ी। वह सोते से जाग उठी। इतने में ही एक सेवक राजमहल से दौड़ा हुआ पन्ना के पास पहुँचा और सब माजरा कह सुनाया। ज्यों ही सेवक के मुँह से यह सुना कि—'सम्भव है बनवीर अब यहाँ उदयसिंह को मारने के लिए भी आए'—तो पन्ना भय से काँप उठी। उसकी समझ में नहीं आया कि वह क्या करे और क्या न करे? मकान के एक कोने में उदयसिंह पालने में नींद ले रहा था तो दूसरे कोने में उसका दूध-पीता पुत्र आनन्द से सोया हुआ था। पन्ना की कातर दृष्टि बार-बार दोनों ओर झाँकती घूम रही थी।

सहसा अंधेरे से संघर्ष करते हुए दीपक के क्षीण प्रकाश में नंगी तलवार चमकी। 'उदयसिंह कहाँ है?—बनवीर गरजा। पन्ना का रक्त जम गया। वह क्या उत्तर दे समझ न सकी। बनवीर ने पन्ना को ठोकर लगाते हुए दुबारा पूछा—'जल्दी बतला उदयसिंह कहाँ है? पन्ना के प्राण मुँह को आने लगे। उसने घुम-घुम काँपते हुए हाथ उठाया और अपने पुत्र के

पालने की ओर संकेत कर दिया। तलवार जोर से गिरी! बालक का सिर अलग, धड़ अलग। खून के फव्वारे छत को जा लगे।

बनवीर चला गया था। ज्यों ही बाहर यह खबर पहुँची कि—'उदयसिंह भी भाग गया, तो अन्तःपुर की रानियों का, दास-दासियों का रोदन-स्वर द्विगुणित हो उठा। उधर पन्ना अपनी छाती को पत्थर बनाए चित्तौड़ की जनशून्य अँधेरी गलियों में से दौड़ी चली जा रही थी। बालक उदयसिंह निःशब्द पन्ना की छाती से चिपटा हुआ था। ऊपर सघन आँचल पड़ा था, इसलिए कि कोई देख न ले। पन्ना सर्वथा मौन थी। पुत्र की बलि चढ़ाकर भी धीरज रख रही थी, परन्तु माता का हृदय कहाँ रुकता है? अन्दर का अवरुद्ध शोक पिघल-पिघल कर दोनों आँखों की राह से चुपचाप आँसुओं के रूप में बह रहा था। स्वामि-भक्ति का आदर्श, अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था।

पन्ना के पैर, अब साधारण नारी के पैर नहीं थे। उनमें विद्युत की शक्ति भर चुकी थी। वह आँधी की-सी द्रुत गति से मैदान पर मैदान, वन पर वन, पहाड़ी पर पहाड़ी पार करती हुई चली गई। अनेक सामन्तों के द्वार खटखटाए। उन सामन्तों के द्वार, जो चित्तौड़ के राणा-वंश के लिए प्राणों की आहुति तक देने को वचन-बद्ध थे। किन्तु किसी ने भी उदयसिंह के लिए आश्रय न दिया। किसी का भी क्षत्रियत्व, बनवीर से अड़ने को तैयार न हो सका! पन्ना सब ओर से हताश, निराश! बिचारी अबला करे भी तो क्या करे? नारी का नारीत्व तो जागृत था, परन्तु पुरुषों का पुरुषत्व जो सोया हुआ था।

पन्ना की आँखों के आगे गहरा अन्धेरा है। फिर भी वह आशा की बुझती हुई ज्योति के प्रकाश में बढ़ रही है। 'जिन खोजा

तिन पाइयाँ' की उक्ति कभी मिथ्या सिद्ध नहीं हुई। कमलमेर दुर्ग के पास से गुजरते हुए पन्ना को यकायक वहाँ के सेनाध्यक्ष आशा शाह का ध्यान हो आया। वह ओसवाल जाति से वैश्य! क्या इतना साहस कर सकेगा? जहाँ दिन-रात मूँछों पर ताव देने वाले सिद्धान्त नामधारी क्षत्रियों से कुछ नहीं हुआ वहाँ यह बेचारा क्या करेगा। मन ने आने से इनकार कर दिया परन्तु दूसरा कोई सहारा भी तो नजर नहीं आ रहा था। आखिर, आशा और निराशा के बीच गुजरती हुई पन्ना कमलमेर दुर्ग के अन्दर दाखिल हो गई।

उदयसिंह सेनाध्यक्ष की गोदी में था। पन्ना का आग्रह ही नहीं किन्तु मासूम उदयसिंह के भोले भाले मुखड़े का भी आग्रह था कि इसे शरण दी जाय। सेनाध्यक्ष का अन्तर दया से बार बार परिप्लुत हो-हो जाता था परन्तु नर बनवीर का आतंक स्थिर नहीं होने दे रहा था। आशा शाह ने गद्गद् स्वर में कहा — यह मुझ से न हो सकेगा। मैं कहाँ इतना साधन-सम्पन्न हूँ कि बनवीर से संघर्ष मोल लूँ। मेरा धर्म मुझे अन्दर से प्रेरणा देता है कि मैं कुछ भी हो उदयसिंह की रक्षा करूँ पर बाद में बदलती हुई विकट परिस्थिति का सामना करने का मुझ में दम नहीं।

पन्ना निराशा के भँवर में चक्कर खाती हुई उदयसिंह को लेकर लौटने को ही थी कि अन्दर के कमरे से शरीर पर सत्तर से भी कुछ अधिक वर्षों की पुरातनता का भार लादे हुए किन्तु मन के कण-कण में नव-स्फूर्ति तरुणाई को धीरज भर देने वाला अदम्य साहस लेकर एक वृद्धिया बाहर निकली।

आशा! यह मैं अन्दर क्या सुन रही थी? क्या तुम्हीं पन्ना को नकार में उत्तर दे रहे थे?

"हाँ, माता ! मैं ही उत्तर दे रहा था।"

"अरे, यह उत्तर है ? तुम्हारे जैसे सेनाध्यक्ष के लिए शरणागत के प्रति नकार मे उत्तर देना, क्या शोभा देता है ?"

"माता, शोभा तो नही देता, परन्तु वनवीर का कोप कौन सहन करे ?"

"कौन सहन करे ? वह सहन करे, जो अपने पर कलममेर के दुर्ग की रक्षा के दायित्व का भार रखता हो, जो शान के साथ कमर मे तलवार लटका कर क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्र, क्षत्त्रेषु शब्दो भुवनेषु रूढ ' का महावाक्य चरितार्थ कर रहा हो।"

"माता आपका कथन ठीक है, परन्तु गजराज, हिमालय से टक्कर लेकर किस परिणाम की आशा रख सकता है ?"

"हाँ, अब समझी। तुम्हे जीवन का मोह है। क्या सेनाध्यक्ष के दायित्वपूर्ण पद पर यही जीवन का मोह एव मृत्यु का भय लेकर आया है ?"

"माता सेनाध्यक्ष अपना कोई स्वतत्र निर्णय नही रखता। राजा की जो आज्ञा होती है, वही उसे करना होता है। कही सेनाध्यक्ष अपने सत्ता-रूढ राजा से भी लडता है ?"

"नही, नही ! राजा से नहीं लडता ! वह तो राजा रूपधारी उच्छृङ्खल नर-पशु के सकेत पर दीन, हीन, असहाय प्रजा से लडता है, उसके निर्दोष रक्त से पृथ्वी माता को सींचता है, और स्त्रियो तथा बच्चो के हा हाकार से उसे कँपा देता है ! अशरण-शरण भगवान् महावीर के अनुयायी, क्या तुझे लज्जा नही आती, जो तेरी तलवार निर्दोष प्रजा का तो सहार करे, पर शरणागत की रक्षा न करे। शरणागत की रक्षा मे तुझे मरा हुआ देखकर तो मुझे आनन्द होगा, पर इस प्रकार जीवित रहने मे नही।"

भामा शाह का सोया हुआ महान् जैनत्व जाग उठा। वह माता के चरणों का स्पर्श कर, तनकर खड़ा हो गया। मंत्री तलवार हाथ में थी प्रतिज्ञा को गम्भीर वाणी वायुमण्डल में स्वर भर रही थी—

जब तक शरीर में एक भी रक्त की बूंद शेष रहेगी मैं उदयसिंह के प्राणों की रक्षा करूँगा। मैं भगवान् महावीर के नाम को जैन-धर्म के गौरव को कदापि कलंकित नहीं होने दूंगा। माता मैं भटक गया था। तुमने मुझे बचा दिया है। तुम-सी माता पाकर मैं धन्य-धन्य हो गया।

भामा शाह का यह स्वर अब भी हमारे कानों में गूँज रहा है— 'तुम-सी माता पाकर मैं धन्य-धन्य हो गया।' वह माता जिसका हम नाम तक नहीं जानते केवल भामा शाह की माता के नाम से ही जान रहे हैं इतिहास में अजर-अमर हो गई। त्याग की भूमिका का प्रारम्भ सर्वप्रथम पन्ना करती है अपने स्तन-पोषित पुत्र का बलिदान देकर और त्याग के भवन का कलशारोहण भामा शाह की माँ करती है अपने भरे-पूरे परिवार और वैभव के एक मात्र आधार योग्य पुत्र को बलिदान के पथ पर बढ़ाकर दोनों ही नारियाँ—एक अधेड़ और एक बुढ़िया युग युग तक अभिनन्दनीय रहेंगी।

कहानी का उपसंहार हो चुका है। जो कहना था जिस उद्देश्य से कहना था वह कहा जा चुका है। फिर भी उपसंहार के नाम से कुछ और अधिक। भामा शाह ने एक-से-एक भयंकर आपत्तियाँ सहन की सघर्ष किए पर माता के समक्ष किया हुआ आदर्श प्रण पूरा करके ही दिखलाया। उदयसिंह भामा शाह के आश्रय में बयस्क हुए शिक्षित दीक्षित हुए और अन्ततोगत्वा चित्तौड़ के सिंहासन पर समारूढ़ राजा बना दिए गए। —वर्धमान

चन्द्रगुप्त का बचपन

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भारतवर्ष के बड़े ही प्रभावशाली सम्राट् हुए हैं। भारतवर्ष का गौरव, इनके राज्य मे बहुत ऊँचाई पर पहुँचा हुआ था। इनके राज्य की सीमा काबुल-कधार तक फैली हुई थी। ये पाटलीपुत्र (पटना) के राजा थे। इन्होंने यूनान देश के सम्राट् सैल्यूकस को युद्ध मे पराजित किया था और सैल्यूकस की पुत्री हेलेन के साथ विवाह किया था।

भारतवर्ष को महाराजा चन्द्रगुप्त पर बहुत गर्व है। उन जैसे न्याय-नीति वाले बहुत ही कम राजा हुए है। उनके राज्य मे चोरी, झूँठी गवाही आदि के अपराध नही होते थे। यूनानी राजदूत मेगास्थनीज लिखता है कि मैंने यहाँ किसी को अपने घर पर ताला लगाते नही देखा। यहाँ तक कि लोग विदेश जाते समय भी अपने घरो पर ताला नही लगाते थे। केवल साँकल लगाकर ही चल देते थे।

महाराजा चन्द्रगुप्त और उनके प्रधानमन्त्री चाणक्य दोनो ही जैन धर्मावलम्बी थे। जैनाचार्य भद्रबाहु, इनके गुरुदेव थे। जैन-धर्म को गर्व है कि उसने भारत को ही नही, विश्व को अपने समय का बे-जोड प्रजापालक तथा न्यायकारी राजा दिया।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध मे जैनाचार्य हेमचन्द्र आदि ने तथा मेगास्थनीज आदि विदेशी लेखको ने बहुत कुछ सुन्दर

वर्णन किया है। इच्छा थी कि वह तुम्हारी जानकारी के लिए लिख दूं परन्तु उस ओर जाने में जरा लम्बा लिखना पड़ता और वह तुम्हें ठीक नहीं लगता। इसलिए उनके बचपन की एक घटना ही तुम्हें बता रहा हूँ। तुम इसी से समझ सकोगे कि हमारे सम्राट् बचपन से ही कितने उदार, दानी और साहसी थे। किस प्रकार वह एक साधारण से गाँव के नगण्य क्षत्रिय कुमार से भारत के माने हुए सम्राट् बन गए? यह तुम्हें इस घटना से ही पता चलेगा।

महामन्त्री चाणक्य पहले बहुत गरीब थे। विद्वान् वे अपने समय के एक ही थे परन्तु उनकी विद्या उस समय चमकी नहीं थी। तब वे भारत के छिपे हुए रत्न थे। गरीबी में ही उनको आनन्द था। शास्त्रों का अध्ययन करना और मस्त रहना उन दिनों यही उनका काम था।

एक समय की बात है कि उनके जाति भाइयों में कहीं विवाह था। वहाँ चाणक्य की धर्मपत्नी भी गई। उसके पास अच्छे कपड़े न थे इस पर दूसरी स्त्रियों ने उसका अपमान और तिरस्कार किया। इतना ही नहीं जिसके यहाँ वह अतिथि बन कर पहुँची थी उसने भी उसका निरादर करने में कोई कसर न रखी। इस अपमान की चोट को वह सहन न कर सकी।

घर लौटकर उसने यह सब वृत्तान्त चाणक्य को सुनाया और कहा — संसार की प्रतिष्ठा का आधार तो धन है। जिस मनुष्य के पास धन नहीं उसकी दशा पशु से भी हीन है। आपकी विद्या किस काम आएगी? अपनी विद्या से धन कमा कर उन सब लोगों की [illegible] तभी मेरा मन शान्त होगा और आपकी विद्या का गौरव बढ़ेगा। [illegible] इससे मन की व्यथा [illegible] रही।

धर्मपत्नी के आँसुओं ने चाणक्य की सोई हुई शक्ति को उत्तेजित कर दिया। वह दृढता के साथ खडे हो गए और कहा—"धन कमाना भी कोई बडी चीज है? मैंने विद्या पढी है, मैं इसके बल पर विश्व-विजय कर सकता हूँ। अब तुम मेरी विद्या का चमत्कार देखना, क्या से क्या हुआ जाता है।"

चाणक्य सीधे राजा नन्द की राजधानी पाटलीपुत्र में पहुँचे। उस समय नन्द के यहाँ कोई महान् उत्सव था, दूर-दूर के विद्वान् आए हुए थे। चाणक्य भी वहाँ जा पहुँचे और एक ऊँचे-से आसन पर विराजमान हो गए। चाणक्य एक गरीब ब्राह्मण थे। वेष-भूषा से वे साधारण भिखारी जैसे लगते थे। राजा ने उन्हे धक्के देकर निकाल दिया।

चाणक्य इस अपमान पर बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होने सभा से जाते हुए गर्जकर कहा—"आज तुमने जो कुछ किया है, उसका फल अवश्य मिलकर रहेगा। एक विद्वान् अतिथि का अपमान रग लाएगा। मैं तुमको अपनी विद्या की करामात न दिखाऊँ तो मेरा नाम चाणक्य नही।" चाणक्य के इस कथन पर सब लोग हँस पडे। सब ओर से व्यग्यपूर्ण आवाज आई—"अवश्य, अवश्य दिखलाना।"

चाणक्य, क्षुब्ध सिंह के समान चले जा रहे थे। राजसभा का अपमान, उनके हृदय को बेचैन किए हुए था। वे एक ऐसे साहसी और शूरवीर साथी की खोज मे थे, जिसके सहयोग से नन्द साम्राज्य नष्ट कर दिया जाए। एक गाँव से दूसरे गाँव घूमते हुए, वे दूर चले गए, पर कोई साथी मिल न सका।

एक बार चाणक्य किसी छोटे से गाँव के पास से गुजरे। वहाँ एक बालक, स्वय राजा बनकर दूसरे बालको पर राज्य

करने का खेल खेल रहा था। किसी को दण्ड दिया जा रहा था तो किसी को झूठ-मूठ ही इनाम देने की घोषणा की जा रही थी।

चाणक्य यह तमाशा देखकर हँस पड़े। वे ऊँची-सी जगह पर बैठकर राजा का अभिनय करते हुए चन्द्रगुप्त के पास पहुँचे और हँसकर कहा—'राजन्! मैं एक गरीब ब्राह्मण हूँ। मुझे दान में एक गाय देने की कृपा कीजिए। मेरे बच्चे दूध पीकर आशीर्वाद देंगे।

बालक चन्द्रगुप्त ने झटपट सामने जाती हुई दूसरे आदमी की गायों की ओर संकेत करते हुए कहा—"महाराज ये गाएँ आपके सामने हैं। इनमें से जो भी और जितनी भी गाएँ पसन्द हों ले लीजिएगा।

चाणक्य ने हँसकर कहा—'ये तो दूसरे की गाएँ हैं। देखते हो ग्वाला कितना हृष्ट-पुष्ट और मजबूत है? कैसे लेने देगा?'

चन्द्रगुप्त ने कड़क कर उत्तर दिया—"ब्राह्मण डरते हो? मैं राजा हूँ। यह सब मेरी प्रजा है मेरा राज्य है। जब मैं तुम्हें दे रहा हूँ तब किसकी मजाल है जो तुम्हें लेने से रोक सके! यदि कोई मूर्ख तुमको रोकेगा तो मैं उससे लड़ूँगा और लड़कर तुम्हें गाय दिलवा दूँगा।

चाणक्य चन्द्रगुप्त के साहस को देखकर दंग रह गए। चाणक्य को चन्द्रगुप्त के मस्तक पर भारत के भावी सम्राट् होने के चिह्न स्पष्ट अंकित हुए। उन्होंने सोचा—'यह बालक बड़ा साहसी है शूरवीर है। यदि यह साथी हो जाए तो अवश्य ही मैं नन्द का उच्छेद कर दूँगा।

चाणक्य, गाँव मे पहुँच कर चन्द्रगुप्त के माता-पिता से मिले। उनको समझा-बुझाकर चन्द्रगुप्त को अपने साथ मे लिया और पढाना शुरू कर दिया। कुछ समय पश्चात् यहाँ के राजा को सहयोगी बनाकर पाटलीपुत्र पर आक्रमण किया गया। नन्द पराजित हुए, और मगध के सिहासन पर चन्द्रगुप्त भारत के सम्राट् बन गए। आपने देखा, हमारे सम्राट् बचपन से कितने उदार और साहसी थे। आज के बालक भी, यदि उनके आदर्श पर चलें तो भारत की स्वतन्त्रता को चिरस्थायी रख सकते हैं, अपना भविष्य महा१ बना सकते है।

—वर्धमान

किसी उच्च पद पर आसीन होने मात्र से ही कोई उच्च नहीं बन जाता। क्या गगन-चुम्बी राज-प्रासाद के स्वर्ण-कलश पर बैठकर कौआ हस बन जाता है? महान् होने के लिए महान् सिहासन नहीं, अपितु महान् गुण-कर्म होने चाहिएँ।

यदि कोई बालक किसी जटिल यन्त्रों वाले कारखाने मे किसी पेच या पुरजे को यहाँ-वहाँ घुमाने लगे, तो उसका क्या नतीजा होगा इसकी कोई भी कल्पना कर सकता है?

सस्कृति ही राष्ट्रीय एकता की सबसे बलशाली कडी है।

दुःख एक कसौटी है, जिससे मनुष्य परखा जाता है कि वह कुन्दन है या पीतल पक्का है या घुन। दुःख आने पर पर्वत की तरह अडोल रहने वाले महापुरुष कहलाते हैं। दुःख में घबरा कर विचलित होने वाले की गति पतझर में गिरे पत्ते की तरह होती है, जिसे कोई जानता तक नहीं कि वह कौन है।

बाहरी वस्तुएँ जीवन का साध्य नहीं हैं, मात्र साधन हैं। ज्वर आया दवा पी ली—ज्वर शान्त हो गया। भूख लगी रोटी खा ली—भूख शान्त हो गयी। सोचिए—उसमें और इसमें अन्तर क्या है? धन तो और रूप का साधन है। साधन का साधन है। उसमें जीवन उलझ गया फिर समस्या सुलझे कैसे?

मनुष्य जो कुछ कहता है वह वस्तु-सत्य का एक पहलू है। वस्तु के जितने पहलू हैं उतने ही सत्य हैं। जितने सत्य हैं, उतने ही द्रष्टा के विचार हैं। जितने विचार हैं उतनी ही मान्यताएँ। जितनी मान्यताएँ उतने ही दर्शन के प्रकार हैं। जितने प्रकार हैं, उतने ही मतवाद हैं।

भारत में रहने वाले लोगों के अच्छे संस्कार ही तो सही अर्थ में भारतीय संस्कृति है। भारतीय संस्कृति का अर्थ होगा—ऊँची संस्कृति त्याग की संस्कृति संयम की संस्कृति और अध्यात्म की संस्कृति।

यह सब समृद्धि चरित्र की और मनुष्यत्व की समृद्धि के बिना न केवल निरर्थक है अपितु हानिप्रद भी हो सकती है। देश की वास्तविक समृद्धि तो चरित्र की समृद्धि है

लघु-कथानक

महाकवि धनपाल

महाकवि धनपाल जैन श्रावक थे। वडे ही दयालु और शान्त। एक दिन राजा भोज वडे आग्रह के साथ उन्हे शिकार खेलने के लिए साथ ले गया। राजा ने एक भागते हुए हरिण को वाण से वीधा और वह भूमि पर गिरते ही प्राणान्त वेदना से छट-पटाने लगा। इस प्रसग पर साथ के दूसरे कवियो ने राजा की प्रशसा मे कविताएँ पढी। किन्तु महाकवि धनपाल चुपचाप खडे रहे। आखिर राजा ने स्वय ही प्रसगोचित वर्णन के लिए धनपाल के मुँह की ओर देखा। महाकवि धनपाल ने राजा को वोध देने की दृष्टि से तत्कालीन प्रसग का निर्भयता पूर्वक उपयोग करते हुए कहा—

"रसातल यातु तदत्र पौरुषम्,
कुनीतिरेषा शरणोह्यदोषवान् ।
निहन्यते यद् वलिनाति दुर्वलो,
हा हा ! महाकष्टमराजक जगत् ॥"

"यह पौरुष पाताल मे जाए। निर्दोष और शरणागत को मारना, नीति नहीं, कुनीति है। वडे दुःख की वात है कि वलवान दुर्वल को मारते है। ससार मे अराजकता किस भयकर रूप मे छाई हुई है।

राजा ने अपनी यह भर्त्सना सुनी तो अपमान से तिलमिला उठा। अस्तु, कुछ क्रोध के स्वर में कहा— 'कविराज यह क्या कहते हो ?

महाकवि धनपाल ने दृढ़ता के स्वर में कहा—

"वैरिणोऽपि हि मुच्यन्ते,
प्राणान्ते तृण-भक्षणात् ।
तृणाहाराः सदैवैते
हन्यन्ते पशवः कथम् ?" ।—

'महाराज ! ठीक ही कहता हूँ, इसमें क्या असत्य है ? मुँह में घास का तिनका लेने पर जब विरोधी से विरोधी प्राणघातक को भी आपके यहाँ छोड़ दिया जाता है तब ये मूक पशु तो सदा ही घास खाकर जीते हैं। भला इन्हें क्यों मारा जाता है ?"

राजा भोज के हृदय पर ठीक समय पर सत्योपदेश की करारी चोट पड़ी। राजा के मन में दया का भाव जागा और सदा के लिए शिकार खेलने का त्याग कर दिया।

'धनपाल ! तुम्हारा काव्यादर्श युग-युगान्तर तक के लिए जीता-जागता रहे।

अम्बपाली का निमन्त्रण

एक बार तथागत बुद्ध विहार-चर्या करते हुए वैशाली पहुँचे और वहाँ की सुप्रसिद्ध वेश्या आम्रपाली (अम्बपाली) के आम्रवन मे विराजे। जब अम्बपाली ने यह समाचार सुना, तो वह आनन्द-विभोर हो गई, उसके हृदय के कण-कण मे हर्ष का अमृत-रस छलकने लगा।

वह रत्न-जटित स्वर्ण-रथ पर सवार होकर तुरन्त ही भगवान् के दर्शन करने चली। दासियो का पैदल झुण्ड उसके पीछे था। उसके पीछे अश्वारोही दल, और उसके बाद हाथियो पर भगवान् तथा श्रमण-सघ की पूजा-सामग्री। सब के पीछे बहुत-से वाहन, कर्मचारी और पौरगण थे।

आज अम्बपाली एक साधारण पीत-वर्ण का परिधान धारण किए शान्त-भाव से बैठी है। एक भी आभूषण उसके शरीर पर नही है। आज उसके आस-पास वासना नही, अपितु वैराग्य-भावना मँडरा रही है। ज्यो ही आम्रवन के पास पहुँची, त्यो ही उसने सवारी रोकने की आज्ञा दी और पैदल ही भगवान् के चरणो तक पहुँची।

तथागत बुद्ध पद्मासन से शान्त-मुद्रा मे एक सघन वृक्ष की छाया मे बैठे थे। हजारो शिष्य, सामने दूर तक बैठे हुए, भगवान् के श्रीमुख से निकले प्रत्येक शब्द को हृदय-पटल पर अकित कर

रहे थे। आनन्द ने निवेदन किया—"भन्ते! अम्बपाली दर्शनार्थ आई है। तथागत ने मृदु हास्य के साथ अपने करुणामृतवर्षी नयन उठाए। अम्बपाली ने भूमि पर नतमस्तक होकर वन्दना की। भगवान् का उपदेश श्रवण करने के पश्चात् उसने अगले दिन के भोजन की प्रार्थना की—'भगवन्! इस अपदार्थ का आतिथ्य स्वीकार हो। इन चरण कमलों की देव-दुर्लभ रज-कण तुच्छ दासी की कुटिया को भी प्रदान हो।"

अम्बपाली की प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। इतने में ही लिच्छवि राजकुमारों ने भगवान् की पद-धूलि अपने स्वर्ण मुकुटों पर लगाते हुए कहा—'महाप्रभु! हमारी तुच्छ राजधानी इन चरणों के पधारने से कृतकृत्य हुई। किन्तु भगवन् यह वेश्या की वाटी है भी चरणों के योग्य नहीं। प्रभु के लिए राज महल प्रस्तुत है और वहाँ हम सब आपकी सेवा के लिए हृदय से उत्सुक हैं। भगवान् ने हँस कर कहा—"तथागत के लिए वेश्या और राजा में क्या अन्तर है? तथागत सम-दृष्टि है।"

धर्मोपदेश श्रवण करने के बाद जन-समूह वैशाली की ओर लौट रहा है। आज आम्रपाली के हर्ष की सीमा नहीं है। वह आनन्द के अतिरेक में बिना कुछ देखे-सुने अपना रथ वैशाली के राज-पथ पर भगाए जा रही है।

लिच्छवि राजकुमारों ने आश्चर्य से पूछा—"अम्बपाली! यह क्या बात है कि आज हम लिच्छवियों के बराबर अपना रथ हाँक रही है?"

उसने उत्तर दिया—"आर्य पुत्रो! मैंने भगवान् बुद्ध को संघ-सहित कल के भोजन का निमन्त्रण दिया है जो सस्नेह स्वीकार कर लिया गया है।

"अम्बपाली ! हम तुझे सौ हजार (एक लाख) स्वर्ण-मुद्रा देंगे, तू भगवान् का कल का भोजन हमारे यहाँ होने दे।"

"आर्य-पुत्रो ! यह नही हो सकता।"

"अच्छा, तो तू सौ गाँव ले ले, और यह निमन्त्रण हमे दे दे।"

"आर्यपुत्रो ! यह सर्वथा असम्भव है।"

"आधा राज्य ले ले, और यह निमन्त्रण हमे बेच दे।"

"आर्य पुत्रो ! आप एक तुच्छ भूखण्ड के स्वामी है। पर यदि आप समस्त भू-मण्डल के चक्रवर्ती भी होते और यदि समस्त साम्राज्य भी मुझे देते, तो भी मैं इस निमन्त्रण को तुम्हे नही बेच सकती थी। यह निमन्त्रण बेचने या अदला-बदली करने की चीज नही है।"

राजकुमार हतप्रभ एव पराजित हो गए।

यह था, अम्बपाली का साधनापूत अनाविल जीवन तथा बुद्ध के प्रति अनुपम श्रद्धा-भाव। भोजन के अनन्तर उसने अपने उपवन को भी बुद्ध-सघ के लिए समर्पित कर दिया और अन्त मे वह स्वय भी अपने काम-भोग मे अनुरक्त जीवन से विरक्त हो भिक्षुणी हो गई।

●●

मेवाड़ के गौरव महाराणा प्रतापसिंह घास की झोंपड़ी में मरण-शय्या पर पड़े थे। परन्तु उनका हृदय अब बेचैन था उनकी आत्मा को शान्ति नहीं मिल रही थी।

इस पर सरदारों ने कहा—"महाराज! अब आप शान्ति से प्रभु-चरणों में पधारिए। आपने मेवाड़ के लिए बहुत कुछ कर दिया है अब इसकी चिन्ता न करें।"

राणा ने कहा—"मेरे मन में और कोई चिन्ता नहीं है। मुझे यह ही चिन्ता है कि मेरे मरने पर मेवाड़ का क्या होगा? मैंने देखा था—एक बार अमरसिंह इस झोंपड़ी में घुसा तो उसके सिर में चोट लग गई थी और वह घर की हीन-दशा पर कुछ देर बड़बड़ाता रहा था। उसका मन झोंपड़ी में नहीं महल में है। अतः मुझे भय है कि सुखाभिलाषी अमरसिंह विकट स्थिति आने पर मेवाड़ की रक्षा न कर सकेगा।"

सरदारों ने कहा—तो इसके लिए क्या उपाय किया जाय?

राणा ने कहा—'यदि तुम सब और अमरसिंह यह प्रतिज्ञा करें कि जब तक चित्तौड़ विजय न कर लेंगे तब तक न दिल्ली जायेंगे न थाल में खाएँगे न पलंग पर सोएँगे और न मूंछों पर ताव देंगे तो मैं शान्ति से अपनी अन्तिम यात्रा कर सकूंगा।

ऊपर लिखे अनुसार अमरसिंह और उपस्थित सरदारों ने जब प्रतिज्ञा ग्रहण की तभी मेवाड़पति की आत्मा को शान्ति मिली। यह है स्वदेश-भक्ति और स्वदेश-प्रेम!

टोडरमल का बुद्धि-कौशल

सम्राट् अकबर के अर्थ-मंत्री राजा टोडरमल अपने युग मे वडे ही बुद्धिमान और विलक्षण पुरुष थे। कहा जाता है, एक बार एक फकीर ने सम्राट् अकवर की सेवा मे अर्जी दी कि–"अपने राज्य मे से, जहाँ मैं चाहूँ, मुझे एक वीघा जमीन दे दी जाए।"

वादशाह ने अर्जी टोडरमल को दे दी और कहा कि–"एक वीघा जमीन बहुत छोटी सी माँग है। क्या हर्ज है, दे दीजिए।"

टोडरमल ने सोचा—"हो न हो, यह फकीर काश्मीर मे केशर के खेतो की एक वीघा जमीन लेना चाहता है, क्योकि उस जमीन का एक ही बीघा पाकर यह मालामाल हो जाएगा।"

अस्तु, टोडरमल ने अर्जी के उत्तर मे लिखा—"केशर के खेतो को छोडकर अन्यत्र जहाँ चाहो एक वीघा जमीन ले सकते हो।"

फकीर ने समझ लिया कि टोडरमल के सामने मेरी दाल न गलेगी। उसने अपनी अर्जी वापस ले ली। सम्राट् अकवर को जव यह मालूम हुआ तो टोडरमल की वुद्धिमत्ता पर वडा ही प्रसन्न हुआ।

तैरना भी जानते हो ?

अनेक विद्याओं में पारंगत एक नवयुवक विद्वान देहात में नाव द्वारा एक नदी पार कर रहा था। वह बहु-श्रुत था। नाव ऊँची-नीची लहरों पर नाचती हुई अपने लक्ष्य की ओर द्रुतगति से बढ़ी जा रही थी कि इतने में युवक महोदय ज्ञान की तरंग में आ गए।

आकाश की ओर देखते हुए उसने वृद्ध नाविक से पूछा—"अरे भाई! कुछ नक्षत्र-विद्या जानते हो?

'क्या? मैंने तो यह नाम भी नहीं सुना!

अरे रे! तब तो तेरी जिन्दगी का एक-चौथाई हिस्सा यों ही गया।

कुछ देर बाद नवयुवक ने फिर पूछा—

'तो गणित-वणित तो कुछ जानता होगा?"

'जी नहीं, मैं तो कुछ नहीं जानता।

'तब तो तेरा आधा जीवन यों ही बेकार गया।

नाविक बेचारा क्या कहता! अपने अज्ञान की ग्लानि में वह मौन था। कुछ समय यों ही बीता कि नदी के उस तीर की ओर छोटी-मोटी टेकरियों पर खड़े अनेक वृक्षों की ओर देख कर ज्ञान गर्वी नवयुवक ने पुनः पूछा—

"हाँ, वृक्ष-विज्ञान शास्त्र के बारे मे तो कुछ जानता ही होगा ?"

"नही भाई, ना ! मुझे कोई सास्तर-वास्तर नही मालूम। मैं तो केवल यह नाव चलाना जानता हूँ और दो रोटी का सवाल हल कर लेता हूँ। बस, मैंने कह दिया, मैं पढा-वढा कुछ भी नही।"

अपने ज्ञान की गरिमाता मे गुमान-भरे नवयुवक ने हँस कर कहा—"तब तो तेरी जिन्दगी का तीसरा हिस्सा भी यो ही पानी मे बह गया, नष्ट हो गया !"

साँझ हो चली थी। नाविक दूसरे फेरे की शीघ्रता मे था कि एक ओर से जोर की आँधी उठी। हवा के थपेडो से नाव डगमगाने लगी। उसमे पानी भरने लगा। जीवन के समक्ष मृत्यु की आशका का प्रसग उपस्थित हो गया। अब मल्लाह ने युवक से पूछा—"भाई, तूफान जोरो से है। आप तैरना भी जानते हैं या नही ?"

"अरे तैरना जानता तो तेरी नाव पर क्यो चढता ? भैय्या, मुझे तैरना नही आता, बता, अब क्या करूँ ?" युवक ने घबराते हुए कहा।

"अब तो महाराज ! तैरना न जानने से आपकी सारी जिन्दगी ही बेकार पानी मे डूब चली।"—नाविक ने डूबती नाव पर से धारा मे छलाग लगाते हुए कहा।

युवक महाशय दर्शन, भूगोल, खगोल आदि शास्त्रो के गूढ से गूढ विषयो को तो भली-भाँति समझ सकते थे, उन पर घण्टो बहस भी कर सकते थे, परन्तु नाव डूबने पर तैरना न आने के कारण अपने प्राण बचाने की उनमे शक्ति नही थी। उधर मल्लाह

वह भी नहीं जानता था कि शास्त्र किस चिड़िया का नाम है पर वह तैरना भली-भाँति जानता था इसलिए प्राण बचा कर किनारे तक पहुँच गया।

मनुष्य को चाहिए कि वह शास्त्रों की गूढ़ बहस के चक्कर में न पड़े। उसे और कुछ आए या न आए परन्तु जीवन-समुद्र को तैरने की कला तो अवश्य आनी चाहिए।

●●

बीज बिखरा जाता है किन्तु उर्वर भूमि किसे कब। कुछ भूमि सहज उर्वर होती है, कुछ प्रयत्न से बनाई जाती है। सत के लिए भी यही बात है। सत के लिए उर्वर भूमि है—श्रद्धा। श्रद्धा की उर्वरता हैं कम प्रतापी बन जाते हैं।

जो काम गलत करता है उसे माफ कर। जो काम ठीक करता है, उसे माफ कर मत छोड़। काम करे तो साफ—बुरे काम को हो सके तो छोड़। माफ करे, तो हाल कर। काम करे, तो परखो—ऐसी कसौटी क्या नहीं अपनों लोगों में बरतो।

युद्ध धर्म के नाम पर नहीं अधर्म के नाम पर हुए हैं। उससे अधिक बड़ा अधर्म यही है कि धर्म के नाम पर अधर्म किया जाए।

प्रश्न और उत्तर

मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ सबसे बडा गुण क्या है ?

मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट गुण है, ससार मे सब कही मनुष्य बन कर रहना। मनुष्य के लिए मनुष्यता ही एकमात्र धर्म है, कर्तव्य है, श्रेष्ठता है। मनुष्यता अपने-आप मे अमृत है, उसका शत्रु कोई नही, यहाँ तक कि विष भी नही। अमृत वह, जिसे विष को भी अमृत बनाने की कला आती हो। मनुष्यता जहाँ है, वहाँ परिवार, समाज, देश, परदेश, शत्रु-मित्र, अपने-पराये सब अमृत हैं, सहयोगी हैं। वह बुरे को भी अच्छा बना सकती है, विष को भी अमृत कर सकती है। मनुष्य के मनुष्य बनकर रहने से ससार भर की सारी श्रेष्ठताएँ अपने आप आ जाती हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है – 'माणुस्स खु सुदुल्लह।' 'मनुष्य होना अत्यन्त दुर्लभ है।' अथर्ववेद का ऋषि भी कहता है – 'मनुर्भव,' 'मनुष्य! तू और कुछ न बन कर केवल मनुष्य बन!' प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो भी कहता है—"मैं अपने पास शिक्षा पाने वाले को सबसे पहले मनुष्य बनाऊँगा। यदि वह एक बार अच्छी तरह मनुष्य बन गया, तो फिर वह अच्छा शासक, सेवक, वकील, डाक्टर, सैनिक कुछ भी बन सकता है। जो बनेगा, अच्छा ही बनेगा, खराब बिल्कुल नही।"

मानव जाति की आवश्यक समस्याओं की पूर्ति के लिए किए जाने वाले कामो मे छोटे-बडे ऊँचे-नीचेपन का क्या भेद है ?

कोई भेद नही। मानव जीवन के उपयोगी कामो मे न कोई काम ऊँचा है, और न कोई काम नीचा। ये बाह्य-व्यवहार के

दिखाते म ऊँच-नीच के बस्तुता-जन्य भेद समाज की जड़ को खोखला बना रहे हैं उसकी एकता को छिन्न-भिन्न कर रहे हैं। इन्हें दूर किए बिना मानव-जाति का कल्याण नहीं है।

सड़क पर झाड़ू लगाने वाला मेहतर और देश का सर्वोपरि शासक राष्ट्रपति—दोनों ही मानव-समाज के हित की दृष्टि से बराबर हैं यदि दोनों अपने-अपने कर्तव्य का पालन जनहित की भावना से ईमानदारी के साथ करते हों तो? किसी भी काम की बाह्य रूपरेखा का ऊँचा-नीचापन वास्तविक ऊँचा-नीचापन नहीं है। वास्तविक ऊँचा-नीचापन तो कार्य की पृष्ठभूमि में रहने वाली अच्छी-बुरी मनोभावना पर है।

कुछ लोग जो अपने-आप को अति बुद्धिवादी समझते हैं कहते हैं कि समाज के इन कामों में क्या अच्छापन है क्या धर्म है? ये तो पेट पालने के धंधे हैं? परन्तु मैं ऐसा नहीं समझता। प्रत्येक धंधा मनुष्य के लिए पेट-पूर्ति तक ही सीमित नहीं है अपितु वह धंधिक धंधों में उसकी आत्मा का प्रश्न है। प्रत्येक उपयोगी काम के पीछे जनहित की भावना रखनी चाहिए, जनता की सही सेवा की लगन होनी चाहिए, प्रामाणिकता का भाव जागृत रहना चाहिए। यदि यह स्थिति है तो हर काम सोना है, छोटा कोई नहीं नीच कोई नहीं।

क्या अन्दर की स्वच्छता का बाहर की स्वच्छता पर भी कुछ प्रभाव पड़ता है?

क्या उत्तर है यह एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है। तथापि इतना तो कह ही सकता हूँ कि कुछ-न-कुछ पड़ता अवश्य है। जब तक हम समाज की नीची भूमिकाओं में रह रहे हैं, तब तक अन्दर और बाहर का सर्वथा अलग-अलग करके नहीं चल

सकते। बाहर की गंदगी, मलिनता, अपवित्रता तथा अभद्रता मनुष्य के मन को जुगुप्सित करती है, उसकी प्रसन्नता को घृणा मे बदलती है, और इस प्रकार वह अन्दर मे भी अपना बुरा प्रभाव डालती है। यही कारण है कि अन्दर की पवित्रता के सब से बड़े समर्थक जैनाचार्यों ने भी बाहर मे रक्त, मास, अस्थि और पुरुष-मल के गन्दे वातावरण मे शास्त्र-स्वाध्याय करने का निषेध किया है। जो लोग बाहर मे गन्दे रहते हैं, सडे-गले रहते हैं, जिन पर मक्खियां भिन-भिनाती रहती है, वे अन्दर मे बहुत पवित्र तथा ब्रह्मचारी होंगे, यह धारणा सर्वथा भ्रममूलक है। बाहर की गन्दगी और अन्दर की स्वच्छता मे कोई अविनाभाव नहीं है। जैन-धर्म मे पारिष्ठापनिक समिति तो खास तौर पर बाहर की अस्वच्छता के विरुद्ध प्रयोग मे लाई जाती है। बाहर मे अस्वच्छता रहने से सम्मूर्च्छिम जीवो की उत्पत्ति होती है, और फिर उनकी हिंसा का क्रम बडा ही भयकर होता है। आज भारत मे घर, गली, मुहल्ले, बाजार और समूचे नगर सड रहे हैं, रोगोत्पत्ति और सम्मूर्च्छिम तथा दूसरे जीवो की हिंसा के केन्द्र बन रहे हैं। इसमे जनता का स्वच्छ जीवन सम्बन्धी अज्ञान ही मूल कारण है।

हां, यहां एक बात अवश्य ध्यान मे रखनी चाहिए। वह यह कि बाहर की स्वच्छता और शृङ्गार मे बडा अन्तर है। स्वच्छता, शृङ्गार नहीं है। जहां स्वच्छता विवेक-बुद्धि के प्रकाश मे जगमगाती रहती है, वहां शृङ्गार भोग-बुद्धि के अन्धकार मे घिरा रहता है। स्वच्छता वही वास्तविक स्वच्छता है, जो आस-पास के वातावरण मे भी अहिंसात्मक जीवन का निर्माण करे। जिस स्वच्छता के पीछे किसी प्रकार की विवेक-बुद्धि न हो, अहिंसात्मक पवित्र जीवन के लिए दूरदर्शिता न हो, शिष्ट समाज

के प्रति सद्व्यवहार की मंगल-भावना न हो केवल काम-वासना को उत्तेजित करने के ही दुर्संकल्प हों वह स्वच्छता शृङ्गार है। केवल भोग-बुद्धि पर टिका हुआ शृङ्गार अन्दर की स्वच्छता को दूषित करता है। अतः साधक को स्वच्छता और भोग-बुद्धिपूर्वक शृङ्गार में प्रारम्भ से ही भेद समझ कर साधना के पथ पर अग्रसर होना चाहिए।

बाहर की स्वच्छता और अन्दर की स्वच्छता में बहुत पुराना विवाद है कि इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है? श्रमण-संस्कृति अन्दर की पवित्रता को श्रेष्ठ बताती है और ब्राह्मण-संस्कृति बाहर की पवित्रता को। पहली ज्ञान-गंगा में स्नान करने को कहती है और दूसरी कालिन्दी-वाहिनी गंगा में। परन्तु मुझे यह विवाद एक-दम व्यर्थ मालूम देता है। क्या अन्दर की स्वच्छता वालों को बाहर गंदा रहना है, सड़ते-गलते रहना है, मक्खियाँ भिन-भिनाते रहना है? यदि नहीं तो फिर बाहर की स्वच्छता का सर्वथा निषेध कैसे करते हैं? और उधर क्या बाहर की स्वच्छता ही सब कुछ है अन्दर में कुछ नहीं चाहिए? यदि मानव-जाति के पाप-पुण्य का फैसला इन गंगा जमुना के पानियों को ही करना है, तब पवित्र आचार विचार की मूर्तियाँ ही डूब गईं? जहाँ तक भारत के इतिहास का अध्ययन है दोनों ओर अनिवार्य है। समन्वय में ही दोनों का अपना अपना मूल्य है, ऐकान्तिक विरोध में नहीं।

हम अपने को अच्छा समझें अथवा बुरा?

यह तो आपकी स्थिति पर निर्भर है। यदि आप अच्छे हैं तो अपने को अच्छा समझना अच्छा है। और यदि आप बुरे हैं तो अपने को बुरा समझना भी अच्छा है। परन्तु अपने को दूसरों से अच्छा समझना बुरा है और इसी प्रकार अपने को दूसरों से बुरा समझना भी बुरा है।

मनुष्य मे यदि कोई सद्गुण है, अच्छाई है, तो उसका उसे भान होना ही चाहिए। यह कोई बुराई नही है। आत्म-गौरव मनुष्य को आगे बढने के लिए प्रेरणा देता है, स्फूर्ति देता है, बल देता है। जिस मनुष्य को अपने सद्गुणो पर गौरव नही, वह मनुष्य नही, मनुष्य के रूप मे पशु है। परन्तु जब मनुष्य अपने सद्गुणो की दूसरो के साथ तुलना करता है और दूसरो को नीच समझकर उनसे अपने को श्रेष्ठ समझने का अहकार करता है, तो यह बुरी बात है। जहाँ आत्म-गौरव मनुष्य को ऊँचा उठाता है, वहाँ अहकार उसे नीचा गिराता है। अपने को अच्छा समझो, अवश्य अच्छा समझो। किन्तु दूसरो से अच्छा न समझो। तुम्हे अपने सम्बन्ध मे सोचने का अधिकार है, दूसरो के सम्बन्ध मे नही। अपने को दूसरो के साथ तोलने की बात ही खराब है।

मनुष्य मे यदि कोई दुर्गुण है, बुराई है तो उसका उसे भान होना ही चाहिए। यह कोई बुराई नही है। वह मनुष्य ही क्या, जिसको अपनी दुर्बलताओ—भूलो—बुराइयो का पता न हो। जब दुर्गुण का पता होगा, तभी तो उसे छोडा जा सकेगा। रोग का पता होने पर ही तो उसका उपचार किया जा सकता है। रोगी के लिए सर्व-प्रथम यही बात आवश्यक है कि वह अपने को रोगी समझे। यदि रोगी अपने को स्वस्थ ही समझता रहे तो खतरा बढता है या घटता है? घटने की क्या बात, बढता ही है। परन्तु दूसरो से अपने को सदा बुरा ही समझना, यह भूल है। इसमे साधक को कोई लाभ नही। यह तो एक प्रकार की हीन-भावना है। जो लोग अपने को दूसरो से हीन, अधम, नीच, पापी, गुनहगार होने की ही सदा रट लगाए रहते हैं, वे साधना के पथ पर कभी ऊँचे नहीं उठ सकते। उनका आत्म-बल

क्षीण हो जाता है। हीन-बुद्धि उन्हें किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य को कर सकने की स्थिति में नहीं रहने देती। हीन भावना वाला व्यक्ति रोता रहता है और प्रतिपल पतन-भूमिका की ओर खिसकता रहता है। अतएव अपने में यदि कोई बुराई है तो उसके कारण अपने को बुरा समझना अच्छा है। परन्तु दूसरों से अपने को बुरा न समझे भूलकर भी न समझे। दूसरों से तुलना की बात ही खराब है।

मनुष्य को चाहिए कि वह न अपने को दूसरों से महान् समझे और न हीन। वह अपने आप में जैसा है वैसा ही अच्छा या बुरा समझे तो अच्छा।

आम लोगों की यह धारणा है कि लक्ष्मी पुण्य से ही मिलती है। आपकी इसमें क्या राय है?

लक्ष्मी का आना एकान्त पुण्य की बात नहीं है। वह तो पाप के उदय से भी आती है और पुण्य के उदय से भी आती है।

कल्पना कीजिए—एक आदमी कहीं जा रहा है। जाते-जाते उसे रास्ते में मोहरों की थैली मिल गई। अनायास ही वह मिल गई और उसने उठाली। तो वह पाप के उदय से मिली या पुण्य के उदय से मिली?

वह आदमी उस थैली को उठाकर घर ले गया और मोहरों को इस्तेमाल करना शुरू किया। फिर जाँच हुई तो पकड़ा गया और जेलखाने गया। मानना होगा कि वह थैली पाप के उदय से मिली और जेलखाने जाना और वहाँ कष्ट पाना—उसी पाप के उदय का फल है।

एक डाकू डाका डालता है और लोगों की लक्ष्मी लूट लेता है। उसे जो सम्पत्ति मिली है सो पाप के उदय से या पुण्य के

उदय से ? क्या उस लूट और छीना-झपटी के धन को पुण्य से प्राप्त लक्ष्मी कहा जा सकता है ? कभी नही, तीन काल मे भी नही।

तात्पर्य यह है, कि इस विषय मे बहुत गलत-फहमियाँ होती हैं। हमे निरपेक्ष भाव से, मध्यस्थ-भाव से शान्ति-पूर्वक सोचना चाहिए। ठगी और चोरी न करके, न्याय-युक्त वृत्ति से जो लक्ष्मी आती है, वही पुण्य के उदय से आती है और वह लक्ष्मी नीति और धर्म के कार्यों मे व्यय होती है।

इतिहास बतलाता है कि दिन मे एक व्यक्ति राजगद्दी पर बैठा और रात मे कत्ल कर दिया गया। तो कत्ल कर दिया जाना पाप का उदय है और उसका कारण राजगद्दी मिलना है। अतएव उसे पाप के उदय से राजगद्दी मिली, जो उसके कत्ल का निमित्त बनी।

भारत का अतीत उज्ज्वल रहा है। धर्म, सस्कृति और सभ्यता का तो यह आदि-स्रोत रहा है। इतना होते हुए भी भारत गुलाम क्यों बना ?

इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमे एक हजार पूर्व के कुछ वर्षो का इतिहास देखना होगा और जब हम उन वर्षो का इतिहास देखते है, तो उसकी सही तस्वीर हमारी आंखो के सामने नाच उठती है। वास्तव मे, भारत के इतिहास के उन पन्नो मे उसकी आचार-हीनता की कहानी लिपिबद्ध हुई दीख पडती है। उसके विचारो के साथ उसके आचार का सम्बन्ध टूट गया-सा प्रतीत होता है। अध्यात्म के क्षेत्र मे विचार तो वैसे ही उच्च और महान् दीख पडते है, मगर आचार की दृष्टि से वह शुद्ध और सात्त्विक दृष्टि-गोचर नही होता।

तो आचार की दृष्टि से जब वह गिर गया, विश्व-बन्धुत्व का सन्देश देने वाला भारत जब परस्पर के व्यवहार में ही प्रेम का त्याग कर बैठा, एक घर के दो भाइयों के बीच ही जब मन-मुटाव पैदा हो गया, भाई-भाई का दुश्मन हो गया, भाई-भाई में फूट पैदा हो गई, तो मौका देखकर परतन्त्रता उस पर अपना अधिकार जमा बैठी। विदेशियों के चंगुल में वह फँस गया। मोक्ष की दूरी को नाप डालने वाला भारत आचार-हीन होते ही गुलाम बना दिया गया।

जैन-धर्म के विशुद्ध दृष्टिकोण से खेती करना आर्य-कर्म है या अनार्य-कर्म ? इस पर विवेचनात्मक प्रकाश डालने की कृपा कीजिए।

जीवन विचार के आधार पर चलता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते हैं और विचार के लिए विवेक की आवश्यकता होती है। अतः खेती आर्य-कर्म है या नहीं इस पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम अपने-अपने अन्तःकरण से ही उत्तर माँगना चाहिए।

जो किसान दिन भर चोटी से एड़ी तक पसीना बहाता है, अन्न उत्पन्न करके संसार को देता है, अपना सारा समय परिश्रम और [illegible] में शीघ्र लगा देता है, ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता को आप अनार्य-कर्मी कहें और ऐश-आराम से जिन्दगी बिताने वाले आप आर्य-कर्मी होने का दावा करें, यह उलटी बात [illegible] स्वीकार कर सकता है ? आप बुद्धि को तनिक जागृत करके देखें कि कृषि क्या किसी स्थिति में अनार्य-कर्म हो सकती है ?

[illegible] अतिरिक्त शास्त्र प्रमाणों की भी यदि आवश्यकता हो [illegible] कमी नहीं है। उत्तराध्ययन-सूत्र में उल्लेख है

के जो साधक अपना जीवन साधना मे व्यतीत करता है, जो सत्कर्म के मार्ग पर चलता है और शुभ भावनाएँ रखता है, वह अपनी आयु समाप्त करके देवलोक मे जाता है। देवलोक के जीवन के पश्चात् उसकी क्या स्थिति होती है, यह बताने के लिए वहाँ यह गाथाएँ दी गई हैं—

"खेत्त वत्थु हिरण्ण च, पसवो दास पोरुस ।
चत्तारि काम-खधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥
मित्तव नाइव होइ, उच्चागोए य वण्णव ।
अप्पायके महापण्णे अभिजाए जसोबले ॥"

उपर्युक्त गाथाओ मे कहा गया है कि—जो साधक देवलोक मे जाते है, वे जीवन का पुन प्रकाश प्राप्त करने के लिए वहाँ से कहाँ जन्म लेंगे ? जहाँ खेती लहलहाती होगी। सबसे पहला पद यह आया है कि उस साधक को खेत मिलेगा। उसे खेत की लहलहाती भूमि मिलेगी, जिसमे वह सोने से भी बढ कर अन्न उत्पन्न करेगा। यहाँ सोने और चाँदी से भी पहले खेत की गणना की गई है। इस प्रकार जैन-परम्परा खेती वाडी को पुण्य का फल मानती है। खेती-वाडी, खेत और जमीन अगर पाप का फल—अनार्य-कर्म होता, तो शास्त्रकार उसे पुण्य का फल क्यो कहते ? खेती करना अनार्य कर्म है—इससे बढकर नासमझी और मूर्खता और हो नही सकती।

एक गृहस्थ जब विवाह के क्षेत्र में उतरता है, तो वह ब्रह्मचर्य की भूमिका से उतरता है, या वासना की भूमिका से उतरता है ? इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

यह प्रश्न एक विराट प्रश्न है और जीवन का एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इसका समाधान प्राप्त करने के लिए अनेक गुत्थियो को

मुसकराता है और उनके मुसकराने में कभी-कभी बड़े-बड़े विचारक और दार्शनिक भी उत्पन्न आते हैं।

हाँ तो आप मालूम करना चाहते हैं कि कोई विवाह के क्षेत्र में प्रवेश करता है तो वह ब्रह्मचर्य की दृष्टि से प्रवेश करता है अथवा वासना की दृष्टि से प्रवेश करता है ?

इस प्रश्न का उत्तर एकान्त में नहीं दिया जा सकता। विवाह के क्षेत्र में दोनों चीजें हैं वासना भी है और ब्रह्मचर्य भी है। इस प्रकार दोनों चीजों के होते हुए भी देखना होगा कि वहाँ ब्रह्मचर्य का अंश अधिक है या वासना का ? जब विवाह के क्षेत्र में प्रवेश किया है, तो क्या चीज अधिक है ? यहाँ मैं उसकी बात कर रहा हूँ, जो समझदारी के साथ विवाह के क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है। जो जीवन को समझ ही नहीं रहा है और फिर भी विवाह के बन्धन में पड़ गया है उसकी बात मैं नहीं कर रहा हूँ। तो समझदार के लिए क्या बात है ? विवाह में जहर तो एक बूँद के बराबर है और त्याग की मात्रा समुद्र के बराबर है। पशु और पक्षी अपनी जीवन-यात्रा को तय कर रहे हैं पर वहाँ विवाह जैसी कोई चीज नहीं है। उनकी वासना की लहर समुद्र की तरह लहराती है। किन्तु मनुष्य विवाह करके वासनाओं के उस लहराते हुए सागर को प्याले में बन्द कर देता है।

कल्पना कीजिए—किसी पहाड़ी के नीचे एक बाँध बाँध दिया है। वह वर्षा के पानी से जलाशय भर गया है। यदि बाँध उस पानी को पूरा-पूरा हजम कर सके तो बाँध की दीवारों के टूटने की नौबत न आए और इंजीनियर बाँध बनाते समय पानी निकलने का जो मार्ग रख छोड़ता है उस भी खोलने की आवश्यकता न पड़े। किन्तु पानी जोरों से आ रहा है और उसकी सीमा

नही रही है और वांध मे समा नही रहा है, फिर भी यदि पानी के निकलने का मार्ग न खोला गया, तो वांध की दीवारें टूट जाएंगी और उस समय निकला हुआ पानी का उच्छृङ्खल प्रवाह वाढ का रूप धारण कर लेगा और हजारो मनुष्यो को, सैकडो गाँवो को वहा देगा, वर्वाद कर देगा। अतएव इजीनियर उस वाँव के द्वार को खोल देता है और ऐसा करने से नुकसान कम होता है। गाँव वर्वाद होने मे वच जाते हैं।

यदि इजीनियर वाँध के पानी को निकलने का मार्ग खोल देता है, तो वह कोई अपराध नही करता है। ऐसा करने के पीछे एक महान् उद्देश्य होता है। और वह यह कि वांध सारा-का सारा न टूट जाए, जन-धन का सत्यानाश न हो और भयानक वर्वादी होने का अवसर न आए।

ठीक यही वात मनुष्य के मन की भी है। अगर किसी मे ऐसी शक्ति आ गई है और कोई अगस्त्य वन गया है कि समुद्र के किनारे वैठे और सारे समुद्र को चुल्लू-भर मे पी जाए, तो वह समस्त वासनाओ को पी सकता है, हजम कर सकता है और वासनाओ के समुद्र का शोषण कर सकता है। शास्त्र कहता है कि वह पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। सारे समुद्र को और वांध के पानी को हजम करने की शक्ति तुझमे है, तो तू उसे पी-जा। परन्तु ऐसा करने के लिए तुझे अगस्त्य वनना पडेगा। और यदि सेर-दो सेर ही पानी तू हजम कर सकता है, और फिर भी अगस्त्य वनने चला है, तो तू अपने-आप को वर्वाद कर देगा, समाज और राष्ट्र को भी हानि पहुँचाएगा।

इस प्रकार समस्त वासनाओ को पचा जाने, हजम करने की जो भावना है, वही पूर्ण ब्रह्मचर्य है। जिसमे वह महाशक्ति

नहीं है जो समस्त वासनाओं और विकारों को पचा नहीं सकता उसके लिए विवाह के रूप में एक मार्ग रख छोड़ा गया है। चारों ओर से मजबूत दीवारें हैं और एक ओर से नियत मार्ग से वासना का पानी बह रहा है, तो संसार में कोई उपद्रव नहीं होता कोई बर्बादी की नौबत भी नहीं आती और जीवन की पवित्रता भी सुरक्षित रहती है।

●●

मानसी रोग बढ़ हैं कि मनुष्य का दृष्टिकोण बहिर्मुखी हो गया है। जीवन का आनन्द-स्रोत बाहर से होता है। सुख और दुःख की कल्पना बाहरी वस्तुओं के भाव और अभाव से जुड़ गई है।

दुःख संध्या का लाल क्षितिज है, जिसके पश्चात् घन-घोर अन्धकार है और सुख प्रातःकाल का सुनहला प्रभात है, जिसके पश्चात् उज्ज्वल प्रकाश ही प्रकाश है।

वही साहित्य सारवान् है, जो जीवन को ज्योतित करने वाला हो। जो जीवन में सजीवता और तन्मयता भरने वाला हो।

जन जीवन की और जीवन-मुक्ति में सतृष्ण लोग नष्ट हुए हैं, नष्ट होते हैं और नष्ट होंगे।

प्रवचन

जीवन, एक कला

अनादि-काल से मानव-जीवन मे कला का विशेष स्थान रहा है। कला की एक निश्चित परिभाषा, भले ही अभी तक न हो सकी हो, परन्तु जीवन को सुन्दर, मधुर और सरस बनाने की चेष्टा का जब से सूत्रपात हुआ है, तब से कला भी जीवन के भव्य भवन मे जाने-अनजाने आ पहुँची है। कला का अर्थ, भोग-विलास के साधन जुटाना—एक भ्रान्त धारणा ही नही, अपितु कला के यथार्थ परिबोध की नासमझी भी है। कला, जीवन-शोधन की एक प्रक्रिया है। कला, जीवन-विकास का एक प्रयोग है। कला, जीवन-यापन की एक पद्धति है, एक शैली है। भोग-विलास के उपकरणो व प्रसाधनो के अर्थ मे 'कला' शब्द का प्रयोग करना, यह कला की विकृति है, सस्कृति नही। अधिक स्पष्ट कहें, तो कहना होगा, कि यह 'कला' शब्द की विसगति है, सगति नही।

भारतीय-सस्कृति के महामनीषी ऋषि भर्तृहरि ने कहा है—"जिस जीवन मे साहित्य की उपासना नही, सगीत की साधना नही, कला की आराधना नही, वह जीवन मानव का नही, पशु का जीवन है—"

"साहित्य-सगीत-कला-विहीन ,
साक्षात् पशु॰ पुच्छ-विषाण-हीन ।"

पशुत्व भाव से संरक्षण के लिए, जीवन में क्षमा आवश्यक तत्व है।

श्रमण-परम्परा में मानव जीवन के दो विभाग हैं—श्रावक और श्रमण। गृहस्थ और सन्त भोगी और त्यागी। भोग से त्याग की ओर बढ़ना—दोनों के जीवन का ध्येय-बिन्दु है। जो एक साथ सम्पूर्ण त्याग नहीं कर सकता वह श्रावक होता है। जो एक साथ समस्त बन्धनों को काट कर चल पड़ा वह श्रमण होता है। परन्तु इन दो भूमिकाओं से पूर्व भी जीवन की दो भूमिकाएँ और हैं—मार्गानुसारी और सम्यग्दृष्टि। जो अभी अन्धकार से प्रकाश के प्रकाशोन्मुख बना है परन्तु अभी प्रकाश को पा नहीं सका वह मार्गानुसारी-सन्मार्ग का अनुसरण करने वाला है। जिसने प्रकाश पा लिया सत्य का संदर्शन कर लिया वह सम्यग्दृष्टि। सत्य के महापथ पर चल पड़ना—यह श्रावकत्व और श्रमणत्व है। श्रमण संस्कृति की मान्यता के अनुसार जीवन की ये चार रेखाएँ हैं। इनमें से पहली रेखा तक पहली भूमिका तक—जीवन की कला प्राप्त नहीं होती। सम्यग्दृष्टि व सत्य-दृष्टि ही जीवन-शोधन की सच्ची कला है। यह कला जिसके पास हो जीवन यात्रा में उसे किसी प्रकार का भय नहीं हो सकता।

वैदिक परम्परा में जीवन को चार विभागों में विभाजित किया है—१ ब्रह्मचर्य-साधनाकाल २ गृहस्थ-कर्तव्य-काल ३ वानप्रस्थ-संन्यास की तैयारी और ४ संन्यास—साधना काल। पहले विभाग में जीवन की महत्ता दूसरे में धन और जन का उपार्जन व उपभोग तीसरे में त्याग की तैयारी और चौथे विभाग में त्याग की साधना की जाती है।

भारतीय विचार-धारा मे मानव जीवन को "सत्य, शिव, सुन्दर" कहा गया है। दर्शन सत्य है, धर्म शिव है, मगल है, और कला सुन्दर है। दर्शन विचार है, और कला आचार है, सम्यकत्व उन दोनो मे शिवत्व का अधिष्ठान करता है। फलितार्थ निकला—सम्यगनिष्ठा, सम्यक् विचार और सम्यक् आचार—इन तीनो का समग्रत्व ही वस्तुत जीवन-कला है। जिसके जीवन मे निष्ठा हो, विवेक हो और कृति हो, तो समझना चाहिए, कि यह कलावान् है। आत्मा मे सत्, चित् और आनन्द—ये तीन गुण हैं। इन तीनो की समष्टि को 'आत्मा' पद से कहा गया है। सत् का अर्थ सत्य, शिव का अर्थ विवेक व विचार और सुन्दर का अर्थ आनन्द। अर्थात् 'सत्य, शिव और सुन्दर' की समष्टि को ही जीवन-कला कहा जाता है।

जहाँ तक मैं समझता हूँ, जीवन का चरम ध्येय आनन्द है। यदि मानव जीवन मे से आनन्द-तत्त्व को निकाल दिया जाए, तो फिर मैं पूछता हूँ, कि जीवन का अर्थ ही क्या शेष बचा रहेगा ? और यदि जीवन मे आनन्द नामक कोई तत्व है, तो फिर कला की नितान्त आवश्यकता है। क्योंकि कला का उद्देश्य जीवन को आनन्दमय बनाना है। कुछ विचारक कहते हैं—"कला का अर्थ है, कला। यानी कला, केवल कला के लिए है। जीवन से उसकी कोई सगति नही।" मैं समझता हूँ, यह एक बडी भ्रान्ति है। यह नारा भारत का नही, विदेश का है,—जहाँ भोग ही जीवन की अन्तिम परिणति है। और चूँकि भारत मे जीवन की चरम परिणति है—योग।" अत यहाँ कला, केवल कला के लिए ही नही, मनोरजन के लिए ही नही, अपितु जीवन के लिए है, भोग से योग मे जाने के लिए है। भारतीय विश्वास के अनुसार कला की निष्पत्ति जीवन के लिए

है। अतः कहना होगा कि—'कला जीवन के लिए है।' युग, काल और परिस्थितिवश कला में विभेद हो सकते हैं, परन्तु कला कभी व्यर्थ नहीं हो सकती है।

सौन्दर्य की ओर झुकना मानव मन का सहज स्वभाव रहा है। मानव-मानस में स्थित सौन्दर्य केवल मानव के अपने जीवन तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु अपने आराध्य भगवान् को भी वह सुन्दर वेष में, सुन्दर भूषा में और सुन्दर रूप में देखने की कल्पना करता है। वीतराग को भी भक्त-कवि अनुपम, अद्भुत और परम सुन्दर देखना चाहता है—

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति॥

मैं समझता हूँ इससे अधिक सौन्दर्य की उपासना अन्यत्र दुर्लभ है। भक्त अपने भगवान् को विश्व में सर्वाधिक चिर सुन्दर देखना चाहता है। तभी तो वह कहता है कि जिन शान्तराग परमाणु पुञ्ज से आपके शरीर की रचना हुई है, वे परमाणु विश्व में उतने ही थे। क्योंकि इस विराट विश्व में आपसे अधिक रूप किसी में नहीं है, आपसे अधिक सौन्दर्य किसी में नहीं है। सौन्दर्य के उपकरण ही नहीं रहे तो सौन्दर्य कहाँ रहेगा ?

भले ही हम इस भक्त-कवि की सौन्दर्य भावना को भक्ति का अतिरेक कहकर टाल दें। परन्तु सत्य यह है कि सौन्दर्य की ओर झुकना मानव का सहज धर्म है। सौन्दर्योन्मुख वृत्ति ही तो कला कही जाती है। अन्तर इतना ही है कि

विश्वास सदा से रहा है। कला-कला मे भी बड़ा अन्तर हो है। एक प्राचीन अध्यात्मवादी कवि की वाणी में—

"कला बहत्तर पुरुष की ता में दो सरदार।
एक जीव की जीविका एक जीव उद्धार॥"

७२ कलाओं मे दो कलाएँ प्रधान है—लोक-कला और लोक कला। भोग की एक सीमा है, उसके बाद योग की सीमा ऐ जाती है। भोग से योग की ओर जाना आचार से अध्या बनना यह भारत की मूल-संस्कृति है। इसमें लोक-कला बड़ा महत्व है जिसको कवि ने "जीव उद्धार" कहा है। भाषा में इसे धर्म-कला कहते है— 'सब्बा कला धम्मकला जिणा 'धर्म-कला सबसे ऊँची कला है।" धर्म-कला, यही वस्तु सच्ची जीवन-कला है।

●●

शिक्षा को आजीविका का साधन समझ कर चलना जीवन-वृत्ति कहा है। आजीविका का साधन तो शरीर है, आत्मा का तो मन का स्थान है। विद्यार्थियों को यह पहले से ही जान लेना है कि हमें अपनी आजीविका को बाहु-बल से ही प्राप्त करना है।

सभ्य यह नहीं है, जो तमाम रोगों का अनूप इलाज देती है।

जीवन : एक सरिता

कवि की अलकृत भाषा मे—"जीवन, एक सरिता है।" सरिता की मधुर धारा सदा प्रवाहशील रहती है। प्रवाह रुकते ही उसकी मिठास जाती रहती है। उसका अस्तित्व ही मिट जाता है। अपने उद्गम स्थल से लेकर महासागर तक नित्य निरन्तर बहते ही रहना, सरिता का सहज स्वभाव है। उससे पूछो, कि तू सदा काल बहती ही क्यो रहती है? वह सहज स्वर मे कहेगी—क्योकि यह मेरा सहज धर्म है। मेरा प्रवाह रुका कि मैं मरी। जीवन सवारण के लिए बहते रहना ही श्रेयस्कर है। देखते नही हो, मानव! मेरे कूल के आस-पास ये जो छोटे-बडे ताल-तलैया हैं, उनके जीवन की क्या दशा है! उनका निर्मल, स्वच्छन्द और मधुर जल अपने आप मे बन्द होकर सडने लगता है। गति न होने से, क्रिया न रहने से उनका जीवन समाप्त हो गया है। "आगे बढो या मिट्टी मे मिलो।" यह प्रकृति का एक अटल और अमिट सिद्धान्त है। गतिशीलता जीवन का मूल मन्त्र है।

जो बात मैं अभी सरिता के सम्बन्ध मे कह रहा था, मानव जीवन के सम्बन्ध मे भी वह सिद्धान्त सत्य है। कवि की वाणी मे जीवन एक सरिता है। जीवन को गतिशील रखना, क्रियाशील रखना, विकास का एक महान् तथ्य-पूर्ण सिद्धान्त

है। जीवन के विकास के लिए आवश्यक सिद्धान्त यह है कि उसको रुकना नहीं चाहिए। जन्म से लेकर मृत्यु सीमा तक जीवन निरन्तर बहता ही रहता है। रुकने का अर्थ है मृत्यु।

बहुत-से लोग कहा करते हैं—निद्रा-दशा में जीवन-गति रुकी रहती है, परन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है। विचार कीजिए, क्या देह की हलचल को ही आप जीवन मानते हैं? यदि यही बात आपको स्वीकृत हो, तो कहना होगा—आपने जैन दर्शन के जीव विज्ञान को समझा ही नहीं? जैन धर्म कहता है, यह तो स्थूल जीवन है। सूक्ष्म जीवन है संकल्प का, जिसे अन्तर जीवन कहते हैं। जीव भले निद्रा-दशा में हो, या मूर्च्छावस्था में, उसका संकल्पमय जीवन सदा क्रियाशील रहता है। असंज्ञी प्राणी में भी अध्यवसाय तो माना ही गया है। यदि इससे इन्कार होगा तो फिर आप पुण्य और धर्म की व्यवस्था से भी आपको इन्कार करना होगा। प्राणी बाहर में चाहे चेष्टा रहित दीख रहा हो, किन्तु उसके अन्तर में सदा संकल्प और अध्यवसायों की एक विराट हलचल रहती है। आपने सुना ही होगा कि तन्दुल मत्स्य महामत्स्य की आँख के कोर पर बैठा बैठा ही अध्यवसाय के ताने-बाने से सातवीं नरक का बन्ध बाँध लेता है। बाहर में भले ही उसकी क्रिया न हो, गति न हो? पर अन्तर में उसके एक महान् द्वन्द्व चलता रहता है। यह प्राणी के अन्तर-जीवन की गति है, क्रिया है। सुषुप्त दशा में, मूर्च्छा की हालत में भी प्राणी अन्तर-क्रिया करता ही रहता है। कभी स्थूल जीवन की धारा रुद्ध होने पर भी सूक्ष्म जीवन जिसे मनोविज्ञान की भाषा में संकल्प और अध्यवसाय कहते हैं—सदा प्रवाहित ही रहता है। अन्तर जीवन की हलचल कभी बन्द नहीं होती।

इस विषय पर आध्यात्मिक दृष्टि से भी विचार करे, तो यही तथ्य निकलता है कि—"जीवन सदा गतिशील और क्रियाशील ही रहता है।" जैन-शास्त्र म इस बात का पर्याप्त वर्णन आता है कि—"आत्मा मे गति और क्रिया होती है।" गति व क्रिया आत्मा का धर्म है। ससारी जीवो मे ही नहीं, सिद्धो मे भी स्व-रमण रूप क्रिया रहती ही है। क्योकि क्रिया और गति आत्मा का धर्म है। वह उससे अलग नही हो सकता। इस दृष्टि मे भी यही सिद्ध होता है कि जीवन सदा क्रियाशील है, गतिशील है। क्रियाशील रहना ही जीवन का सहज धर्म है। हाँ, तो कवि की वाणी मे जीवन एक सतत प्रवाहशील सरिता के समान है।

मैं आपसे कह रहा था कि जीवन एक हल-चल है, जीवन एक आन्दोलन है, जीवन एक यात्रा है। यात्री यदि चले नही, बैठा रहे तो क्या वह अपने लक्ष्य पर पहुँच सकेगा? नही, कदापि नही। जगत् का अर्थ ही है – नित्य-निरन्तर आगे बढने वाला। पेड जब तक प्रकृति से सयुक्त होकर बढता है, तब तक प्रकृति का एक-एक कण उसका पोषण करता है। जब उस का विकास रुक जाता है, तो वही प्रकृति धीरे-धीरे उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। मानव जीवन का भी यही हाल है। जब तक मनुष्य मे गति करने की क्षमता रहती है, तब तक उसकी स्वाभाविक शक्ति के साथ प्रकृति की समस्त शक्तियां भी उसके विकास मे सहयोग देती हैं। जब तक उपादान मे शक्ति है, तब तक निमित्त भी उसे बल-शक्ति देते हैं। मनुष्य का कल्याण इसी मे है कि वह लोक-जीवन के साथ अपनी अन्तःशक्ति का सयोग स्थापित करता रहे, इसी को जीवन जीना कहते हैं। महाकवि प्रसाद की भाषा मे कहना होगा –

इस जीवन का अन्त नहीं है,
शान्ति सदन में छिप रहता।
किन्तु खोजना उस सीमा तक
जिसके आगे राह नहीं है ॥"

मैं अभी आपसे कह रहा था कि चलते रहना मनुष्य का मुख्य धर्म क्यों है? जीवन कोई पड़ाव नहीं बल्कि एक यात्रा है। मनुष्य जीवन की परिभाषा करते हुए कवि कहता है—

लम्बे सफर इन्सान तो,
दिन-रात सफर है।

अर्थात्—जीवन एक यात्रा है मनुष्य एक यात्री है। लोक-मार्ग में वह स्वेच्छा से खड़ा नहीं रह सकता? उसे या तो आगे बढ़ना चाहिए या मर मिटना होगा। क्योंकि जीवन एक संघर्ष है संघर्ष करने वाला ही यहाँ पर जीवित रह सकता है। गतिशील होना ही वस्तुतः जीवन का लक्षण है। उपनिषद् का एक ऋषि कहता है— शरवत्तन्मयो भवेत्"—धनुष से छूटा बाण सीधे लक्ष्य में जाकर टिकता है। मनुष्य को भी अपने लक्ष्य पर पहुँच कर ही विराम करना चाहिए। वीर पुरुष वह है जो कभी पथ-बाधाओं से व्याकुल नहीं बनता। वह अपने जीवन की यात्रा में मस्ती के साथ गाता है—

पंथ होने दो अपरिचित
प्राण रहने दो अकेला।
और होंगे चरण हारे
अन्य हैं जो लौटते
दे शूल को संकल्प सारे।

सच्चा यात्री आगे बढता है। उसके मार्ग मे चाहे फूल बिछे हो, या शूल गडे हो। वह अपने सकल्प का कभी परित्याग नही कर सकता। पथ-सकटो को देख कर वापिस लौटना, वीरत्व नही।

महावीर आगे बढे, तो बढते ही रहे। अनेक अनुकूल और प्रतिकूल सकट, उपसर्ग और परीषह आए, पर महावीर कभी विचलित नही हुए। भक्त की भक्ति लुभा नही सकी और विरोधी का विरोध उन्हे रोक नही सका। इन्द्र आया, तो हर्ष नही, सगम आया, तो रोष नही। बढते रहना उनके जीवन का सलक्ष्य था। सयम की साधना रुकी नही। भक्तो की भक्ति की मधुर स्वर लहरी उस मस्त योगी को मोह नही सकी और विरोध के रोष को वह देख नही सका। मुक्ति का त्यागी मुक्ति की खोज मे चला, तो चलता ही रहा। वर्धमान की दृष्टि मे फूल और शूल—दोनो समान थे।

धन्ना का जीवन तो आपने सुना ही होगा। वह अपने जीवन मे जितना बडा भोगी था, उससे भी महान् था—वह एक महायोगी। अपनी पत्नी सुभद्रा की बोली की गोली लगते ही वह सिहराज जागृत हो गया। दिशा बदल ली, तो फिर कभी लौटकर भी नही देखा। नित्य-निरन्तर साधना के महा-मार्ग पर बढता ही गया।

महापुरुषो के जीवन मे हमे यही प्रेरणा मिलती है, उत्साह और स्फूर्ति मिलती है। जीवन सग्राम मे विराम की आशा स्वप्नवत् है। जीवन सघर्ष मे सफल होने के लिए सातत्य यात्रा की आवश्यकता है। जीवन को सदा गतिशील रखो। चाहे एक कदम भर चलो, पर चलते ही रहो। यही सिद्धान्त है,

लक्ष्य को प्राप्त करने का। "बस चीता बढ़ने वालों में।" यह जगत् का एक अमर सिद्धान्त है। मैं आपसे कह रहा था कि जीवन एक सरिता है। उसका सौन्दर्य उसका माधुर्य सदा गतिशील और क्रियाशील बने रहने में ही है।

आजादी आत्मा की एक खास हालत का नाम है, न कि मुल्क में किसी खास हुकूमत का। तीर पिंजड़े में बन्द रहकर भी कुछ आजाद है क्योंकि वह मालकी की आज्ञा को नहीं सीखता। इसके विपरीत बैल और घोड़े खुले रहकर भी गुलाम हैं क्योंकि वे कुछ या ग्रास के पीछे एक शिकारी पर सिर झुकाकर गर्दन या पीठ लगा देते हैं।

जिस आदमी के घर में करतब औरत दुखी दुनिया में उसके लिए नरक के समान है। उस मकान पर कुल के द्वार बन्द कर दो जिसमें से औरत की आवाज दुखभरे स्वरों में निकलती हो।

धन न भी हो—तो भी आरोग्य विद्वत्ता सज्जन-मैत्री, उत्तम कुल में जन्म और स्वाधीनता—ये मनुष्य के महान ऐश्वर्य हैं।

मानव मन का नाग-पाश अहंकार

मानव जब बड़प्पन के पहाड़ की ऊँची चोटी पर चढकर अपने आस-पास के दूसरे मानवो को तुच्छ व हीन मानने लगता है, तब उसकी इस अन्तर की वृत्ति को शास्त्र भाषा मे 'अहंकार', 'अभिमान' और 'दर्प' कहते हैं। अहत्ववादी मानव परिवार मे, समाज मे और राष्ट्र मे अपने से भिन्न किसी दूसरे व्यक्ति को महत्व नही देता। दर्प-सर्प मे दष्ट व्यक्ति कभी-कभी अपनी शक्ति को विना तोले, विना नापे कार्य करने की धृष्टता करता है। परन्तु अन्त मे असफलता का ही मुख देखता है। क्योकि उसके अन्तर-मन मे अधिकार-लिप्सा और महत्वाकाक्षा की वृत्ति इतनी प्रवलतम हो उठती है, कि वह दूसरे के सहयोग तथा सहकार का अनादर भी कर डालता है। मनुष्य जब अहकार के नशे मे चूर-चूर रहता है, तब उसका दिल व दिमाग अपने काबू मे नही रह पाता। अहकारी मानव के जीवन की यह कितनी विकट विडम्बना है?

मनुष्य अपने शरीर की वडी से वडी चोट को वरदाश्त कर जाता है, किन्तु वह अपने अन्तर-मन के गहरे कोने मे पडे अहत्व पर कोमल कुसुम के आघात को भी सह नही सकता। मनुष्य का यह अहत्वभाव उसके जीवन के अनेक प्रसगो पर अनेक रूपो मे अभिव्यक्त होता रहता है। मानव के मन का अभिमान

एक चतुर चालाक बहुरूपिया के तुल्य है। बहुरूपिया एक ही दिवस में अनेक बार अनेक रूपों को बदल-बदल कर बाजार में आता है और हजारों हजार जन-नयनों को धोखा दे भाग जाता है। मानव मन के अन्तराल में छुपा अहंत्व भाव भी मानव की चेतना को धोखा देता है, छलना और माया करता है। जन-मंच पर कभी वह नर बनकर उपस्थित होता है, कभी दया प्रवण होकर प्रस्तुत होता है। कभी वह शत्रु बन बैठता है और कभी वह अपने स्वार्थ के अतिरेक की पूर्ति के लिए परम मित्र के रूप में प्रकट होता है। यों वह अपने आप में एक होकर भी अनेक रूप रूपाय है। अणु होकर भी महान् है, लघु होकर भी विराट् है।

मनुष्य के अभिमान-केन्द्र अनेक हैं, जिनमें शरीर पहला है। मनुष्य अपने शरीर के सौन्दर्य पर, रूप-लावण्य पर और रंग-रूप पर फूला नहीं समाता। वह भूल जाता है कि यह रूप-विलास संसार सागर का [illegible] जल बुद-बुद है। सनत्कुमार चक्रवर्ती अपने अपार रूप वैभव पर कितना गर्वित था? स्वर्गवासी देव और देवों का राजा इन्द्र भी उसके रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध था। रूप और सौन्दर्य अपने आप में बुरा नहीं, बुरा है—रूप का मद, सौन्दर्य का अहंकार। सनत्कुमार ने अपने जीवन काल में ही अपने सौन्दर्य कुसुम को खिलते और महकते देखा—और देखा उसे मुरझाते व सड़ते। जीवन और जगत् की वह कौन वस्तु है, जिस पर मनुष्य स्थिरता का अभिमान टिका सके।

रूप सौन्दर्य की तरह मनुष्य अपने नाम को भी अजर-अमर देखना चाहता है। नाम की वासना मनुष्य को अशांत रखती है। नाम के लिए, यश कीर्ति के लिए और ख्याति के लिए मनुष्य

अपने कर्तव्य और अकर्तव्य की भी मर्यादा-रेखा का उल्लघन करने मे किसी प्रकार का सकोच नही करता है।

इस सम्वन्ध मे मैं आपको जैन इतिहास की एक सुन्दर कहानी सुनाता हूँ—भारतवर्ष का सर्वप्रथम महान् सम्राट भरत दिग्विजय करता-करता ऋषभकूट पर्वत पर पहुँचता है, और वहाँ के विशाल शैल शिला-पट्टो पर अपना नाम, अपना परिचय अकित करने की प्रबल लालसा उसके मानस मे जाग उठी। जरा गौर से देखा, तो मालूम पडा कि यहाँ परिचय तो क्या? 'भरत' इन तीन अक्षरो को वैठने की भी जगह नही। हजारो और लाखो चक्रवर्तियो ने अपना-अपना नाम जडा है—इन शिला-पटो पर! सोचा—"किसी का नाम मिटाकर अपना नाम टाँक दूँ।" ज्योही भरत का हाथ उठा, किसी का एक नाम मिटा और अपना 'भरत' नाम उत्कीर्ण हुआ, त्यो ही भरत के हृदय-गगन मे विवेक-वुद्धि की विजली कौंधी—जिसके ज्ञान प्रकाश मे भरत ने पढा—"आज तू ने किसी का नाम मिटाया है, कल कोई तेरा भी नाम मिटाने वाला पैदा होगा।" भरत की अन्तर चेतना जागी और विचार किया—यह अहत्व-भाव की मोह-मादकता, वडी वुरी वला है। भरत, इस विश्व के विराट पट पर किसका नाम अमर व अमिट रहा है?"

धन का अहकार भी मानव के मन को जकडता है, वाँवता है। मानवी मन जव असन्तोप की लम्वी सडक पर दौडता है, तव हजार से लाख, लाख से करोड और फिर आगे अर्व-खर्व के स्टैण्ड पर भी वह ठहर नही पाता। धन का नशा, सव नशो मे भयकर नशा है। धर्म चेतावनी देता है—"धन भले रखो, पर धन का नशा मत रखो!" रावण की लका और

यादवों की द्वारिका—सोने की होकर भी खाक की हो गई। रावण का अभिमान और यादवों का मद-मद्य—उन्हें वासना के महासागर में ले डूबा।

हिन्दी साहित्य का अमर कवि बिहारीलाल आपके राजस्थान का ही था जिसने एक बार आपके आमेर नरेश मानसिंह की नारी आसक्ति पर— अली कली ही सौं बिन्ध्यो आगे कौन हवाल —यह कह कर करारी चोट मारी थी। वही महाकवि बिहारीलाल मानव मन में प्रसुप्त धन-लालसा पर जोरदार चुटकी लेता कहता है—

कनक कनकतें सौ गुनी
मादकता अधिकाय।
या खाये बौरात है
वा पाये बौरात॥

कनक का अर्थ सोना भी होता है और धतूरा भी। धतूरे को खाकर उसके नशे में मनुष्य बौराने लगे, बड़-बड़ाने लगे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य धन के हाथ में आते ही बौराने लगता है, बहकने लगता है। कवि कहता है— 'धतूरे की अपेक्षा सोने का नशा सौ गुना भयंकर है, अधिक घातक है। धन का अभिमान मानव जीवन के लिए एक अभिशाप है।

मनुष्य का अभिमान इतना विराट बन गया है कि वह भौतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि धर्म-जीवन के आध्यात्मिक पावन प्रांगण में भी उसने अपनी कालिमा घोल दी है। धर्म के क्षेत्र में भी मानव के मन के अभिमान ने उग्र रूप धारण कर लिया है। कि[illegible] बात है यह अभिमान!

सामायिक-संवर करे, तब अहंकार ! त्याग-तपस्या करे, तब दर्प ! मैंने इतना दिया, मैंने इतना किया ! धर्म के परम-पावन क्षेत्र में भी मनुष्य के अन्तर में स्थित दर्प का सर्प फुत्कार कर उठता है। सम्भव है, धन का अहंकार आत्मा को उतना न गला सके। किन्तु यह जो सत्कर्मों का, धर्म के क्षेत्र का अहंकार है, वह अधिक नाशक है और यह आत्मा का गला देने वाला है। अहंकार कैसा भी क्यों न हो, उससे आत्मा का पतन ही होता है, उत्थान नहीं। विष तो विष ही रहेगा, अमृत नहीं हो सकता। महाबली बाहुबली कितना घोर तपस्वी था, परन्तु अहंकार के संस्कारों ने केवल-ज्ञान की ज्योति प्रकट नहीं होने दी।

शास्त्र में वर्णित अष्ट-मदों में कुल, जाति, ज्ञान आदि मद भी परिगणित हो जाते हैं, जिन्हें लोक-भाषा में अहंकार, अभिमान और दर्प कहा-सुना जाता है। आठों ही प्रकार का मद मानव के आध्यात्मिक सद्गुणों का विनाशक है, घातक है।

मानव के मन में विराट शक्ति और अपार बल है, परन्तु अहंकार के नाग-पाश में जकड़ा हुआ वह महाबली हनुमान की तरह अपनी अमित-शक्ति और अतुल-बल को भूल बैठा है। अहंकार की घनी काली तमिस्रा में वह अपने अध्यात्म-सूर्य की चमकती किरणों को देख नहीं पा रहा है। जिस दिन मनुष्य के अहंत्व-भाव का नाग-पाश टूटेगा—तब वह लघु से महान बनेगा, क्षुद्र से विराट बनेगा—इसमें जरा भी शंका नहीं, सन्देह नहीं है।

भारतीय संस्कृति का सजग-प्रहरी

भारत की संस्कृति—भारत के जन-जन के मन-मन की विराट भावनाओं की महान् प्रतीक है, महान् संकेत है। यह संस्कृति संगम की संस्कृति है, मिलन-सम्मिलन की संस्कृति है, मेल मिलाप की संस्कृति है। संस्कृति का अर्थ मात्र इतना ही न समझें—साहित्य, संगीत, चित्र और नृत्य-कला। यह सब होकर भी यदि जन जीवन में सादगी, सच्चाई, सहयोग और सहकारिता नहीं, तो भारतीय चिन्तन में और भारतीय विचार मन्थन में उसे संस्कृति कहना एक दुस्तर अपराध होगा। भारत की संस्कृति उस कूप के समान नहीं है, जो अपने आप में बन्द पड़ा रहता है, बल्कि वह गंगा के उस सदावाही विशाल प्रवाह के तुल्य है, जो अपने आस-पास सरसता और मधुरता का अक्षय भण्डार बिखेरता चलता है। अपनी महान् निधि को मुक्त हाथों लुटाता चलता है। और साथ ही वह इधर-उधर से आ मिलने वाले लघु-लघु जल प्रवाहों को अपना विराट रूप भी देता चलता है। भारत की संस्कृति का यह एक महतोमहान् लक्ष्य रहा [illegible] कि वह बहुत्व में एकत्व का अधिष्ठान करे, भेद में अभेद का महासागर [illegible] करे और विरोध में भी विनोद का मधुर संगीत प्रवाहित करे।

भारत की पुण्य-भूमि पर नये-नये दर्शन आए, नये-नये धर्म आए और नये-नये पन्थ आए - कुछ काल तक उन्होंने अपने अस्तित्व को अलग-अलग रखा—किन्तु अन्त में वे सब सह-अस्तित्व के वेगवान् प्रवाह में विलीन हो गए। एकमेक हो गए। उन सब का एक सगम बन गया और यही भारतीय संस्कृति है।

भारत की संस्कृति का सजग प्रहरी है—सन्त, मननशील मुनि और श्रमशील श्रमण। महावीर व बुद्ध के भी पूर्वकाल में प्रकाशमान भारतीय संस्कृति का देदीप्यमान नन्दा-दीप काल की प्रतस्वता के झोंकों में धूमिल भले ही पड़ता रहा हो, परन्तु परम्परा से चलती आने वाली सन्तों की विचार ज्योति में वह उद्दीप्त होता रहा है और उसकी अजस्र प्रकाश धारा आज भी संसार को स्तम्भित व चकित कर रही है। वस्तुत भारत की संस्कृति का सच्चा स्वरूप सन्त परम्परा में ही सुरक्षित व सुस्थिर रहा है। भारत का सन्त—भले ही वह किसी भी पन्थ का, किसी भी सम्प्रदाय का, और किसी भी परम्परा का क्यों न रहा हो—उसके विचार में, उसकी वाणी में तथा उसके वतन में भारतीय संस्कृति का सुस्वर झंकृत होता रहा है। भारत का विचारशील सन्त व्यक्तित चाहे किसी भी सम्प्रदाय-विशेष में आबद्ध रहा हो, पर विचारों के क्षेत्र में वह लम्बी छलांग भरता आया है।

राजस्थानी सन्त यहाँ की बोली में बोले, जन-भाषा में उन्होंने अपने विचारों की किरणों को बिखेरा। मीरा का जन्म राजस्थान में हुआ, लालन-पालन भी यहीं हुआ, उसने अपने विचारों की लड़ियों की कड़ियों को राजस्थानी जन-बोली में ही गूँथा, फिर भी मीरा का उदात्त विचारधारा राजस्थान की

मीमाओं को लांघ कर भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक परिव्याप्त हो गई फैल गई। राजस्थानी सन्त भले ही राजस्थान में ही रहे हों तथापि उनकी आवाज अचल हिमालय की वादियों से लेकर कन्याकुमारी तक जा गूंजी और राजमहलों के ऊँचे सोने के शिखरों से लगा घास-फूस की झोंपड़ियों तक फैल गई रम गई। यही बात गुजराती महाराष्ट्री और पंजाबी सन्तों के जीवन पर भी लागू पड़ती है। अतः भारतीय सन्त बंधकर भी बँधा नहीं घिर कर भी घिरा नहीं और रुक कर भी रुका नहीं। वह चलता ही रहा और चलता ही चला गया। किसी ने उसे सुना तो ठीक अन्यथा वह अपनी मस्ती में मग्न होकर गाता रहा और उसकी स्वर लहरी इठलाते पवन के झकोरों में प्रसार पाती रही।

भारतवर्ष का वह एक युग था जब यहाँ के विद्वान् व पण्डित देव-वाणी में बोलने के नशे में चूर रहते संस्कृत भाषा में भाषण करना व अपने वंश व कुल की निराली शान समझते। महान् हिमालय के उत्तुंग शिखरों से वे जनता को उपदेश व आदेश देते जनता उनके गूढ़ शब्दों के अर्थ को न समझ कर भी श्रद्धा और भक्ति के नाम पर विनय विनम्र हो जाती। इस अन्ध विश्वास भरी परम्परा के विरोध में महावीर और बुद्ध ने अपनी आवाज बुलन्द की जन-बोली में अपने विचारों का प्रसार फैलाया और वे जन-जन के जीवन में एकाकार होकर जन-नेता लोक-नायक व जनता-जनार्दन बन गए।

महावीर और बुद्ध की नींव पर पीछे आने वाली सन्त सेना पूरा सजधज कदमों में चलती रही जिससे पण्डितों के पैर उखड़ गए। सन्तों ने जनता की आध्यात्मिक नाड़ी को

पकड़ा। जनता के जीवन में वे घुल-मिल गए, और जनता का सुख-दुःख उनका अपना सुख-दुःख बन गया। सन्तों की चिन्तन धारा गहरी और विराट बनी। परन्तु उनकी भाषा जन-बोली रही। जन की भाषा में वे सोचते थे और जनता की बोली में वे बोलते थे। वे विचारों के हिमालय से बोले, तब भी जनता ने समझा और आचार के महासागर के तल से बोले, तो भी जनता ने उन्हें पहचाना। क्योंकि वे सर्व साधारण जनता की अपनी जानी-पहचानी बोली में बोलते थे, न कि पण्डितों की तरह अटपटी बोली में। फलत जनता की श्रद्धा और भक्ति की सरिता का मोड मुड़ा और पण्डितों से हटकर सन्त चरणों में आ टिका, जन-जीवन की श्रद्धा और भक्ति का केन्द्र सन्त बन गया।

आचार्यप्रवर जिनदत्त सूरि—जिनकी आप आज यहाँ पर जयन्ती मना रहे हैं—भारत के उन मनीषी सन्तों में से एक थे, जिन्होंने अपने तपस्वी जीवन से और विचारपूर्ण जीवन से भारत की प्रसुप्त जनता को जागृत किया था। जन-जीवन में ज्ञान की नयी चेतना व आचार की नव स्फूर्ति भरी थी। उन्होंने अपने प्रखर विचारों का प्रचार मात्र अपनी वाणी के माध्यम से ही नहीं किया, बल्कि अपने विराट् चिन्तन की पैनी लेखनी से भी जन-भाषा में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का ग्रन्थन व गुम्फन भी किया है। उनका जीवन एक ऐसा जीवन था—जो उत्थान के निमित्त अपने घर में भी लड़ा और अपने प्रसार के लिए बाहर भी जूझता रहा। उनकी विचारधारा से और संयमी जीवन से जन-जीवन उद्बोधित हो—इसी भावना से उनकी जयन्ती मनाना सार्थक होता है।

भारत के महान सन्तों का जीवन अपने ही अन्तर्बल से पनपा

है उठा है और चला है। उन्होंने अपने विचारों का प्रचार तलवार की ताकत से नहीं प्रेम की शक्ति से किया है।

पण्डितों ने सन्त से पूछा— "तेरा शास्त्र क्या है?"

उत्तर मिला— "चिन्तन और विचार ही मेरा शास्त्र है। मेरा आचार ही मेरा बल और शक्ति है। जन भाषा ही मेरे शास्त्र की भाषा है। सन्त ने जो सोचा वह शास्त्र बना जो बोला वह विधान बना और जिधर चल पड़े वही जन-जीवन की गन्तव्य दिशा बनी।

सन्त से पूछा गया— "तेरा परिवार कौन है? तेरा देश कौन है?

नपी-तुली भाषा में उत्तर मिला—"जन-जीवन ही मेरा परिवार है मेरा समाज है। यह सम्पूर्ण संसार मेरा देश है, राष्ट्र है।

आचार्य शंकर की वाणी में—"स्वदेशो भुवनत्रयम्।" यह सम्पूर्ण सृष्टि ही सन्त का स्वदेश है। सन्त की समतामयी दृष्टि में सब अपने ही हैं पराया कौन है उसे? इसी विराट दृष्टि लेकर चला था भारतीय संस्कृति का सजग प्रहरी सन्त समाज।

भारतीय संस्कृति का यह एक महान् जय-घोष है कि अतीत को भूलो मत। वर्तमान को मजबूत हाथों से पकड़ो और भविष्य की ओर तेज रफ्तार से बढ़े चलो। अतीत से प्रेरणा लो वर्तमान में विचार-चिन्तन करो और भविष्य में आशा तथा विश्वास का मनोहर सम्बल लो। हाँ इस बात का जरा ध्यान रहे कि आपके कदम अनजान में अतीत में न मोड़ें। उनमें गति है तो आगे की ओर बढ़ें भविष्य की ओर चलें।

—सुभाष बालेचा जयपुर

यो वै भूमा तत्सुखम्

आज के जन-जीवन मे पग-पग पर विकट सकट और विषम समस्याओ का तूफान व अखड प्रवल-वेग से चल रहा है। आज के इस अणु युग का मानव सत्ता और महत्ता के हिम-गिरि के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर भी शान्ति, सुख और सन्तोष की सुखद साँस नही ले-पा रहा है। आज के जीवन और जगत के क्षितिज पर अशान्ति और असन्तोष का घना कुहरा छाता चला जा रहा है—जिसमे मानव, मानव को देख नही पा रहा है। अधिक स्पष्ट कहूँ, तो वह अपने आप को भी पूरे रूप मे देख नही पा रहा है। देखने का प्रयत्न भी नही कर रहा है।

आज का यह विराट विश्व सुख और शान्ति के मधुर और सुन्दर नारे लगा कर भी उस सुख और शान्ति को पकड क्यो नही पा रहा है? आज की मानुषी मनीषा से युग इस महाप्रश्न का क्या समाधान माँग रहा है? विचार-महासागर के अन्तस्तल का सस्पर्श करते चले, तो मालूम होगा कि यह महाप्रश्न आज का ही नही, सनातन ससार के सदाकाल से यह अपना समाधान माँगता रहा है।

हम देखते है कि इस जगती-तल के जीव कभी सुख के और कभी दुःख के झूले पर निरन्तर झूलते रहते हैं। मानव-जीवन के गगन-तल पर सुख-दुख के बादल स्थिर होकर नही

बैठते। धूप-छाँह की तरह उठते फिरते हैं। कभी सुख है तो कभी दुख है। आज सुख है तो कल दुःख है। आज शान्ति के मधुर क्षणों में झूम रहा है तो कल अशान्ति की विषम ज्वालाओं में झुलस रहा है। मानव की चाह है कि उसके जीवन-पट में दुख दैन्य और दरिद्रता के काले धागे न हों हो केवल सुख शान्ति और समृद्धि के सुनहरी धागे। सम्पूर्ण जीवन-वस्त्र सुख और समृद्धि के ताने-बाने से बुना हो।

भारतीय दर्शन-शास्त्र में सुख-दुःख की सूक्ष्म मीमांसा की गई है। परन्तु एक वाक्य में उसे यों कहा जा सकता है—'अनुकूलता सुख है और प्रतिकूलता दुख'। भारतीय दर्शन की विचार परम्परा इस तथ्य में अमित अमिट व अविग विश्वास लेकर चली है कि—इस आदिहीन और अन्तहीन अनन्त जगत में जहाँ दुख और दुख के कारण बिखरे पड़े हैं वहाँ सुख और सुख के उपकरण भी प्रस्तुत हैं। भारत के जीवन-शास्त्री इस सत्य तथ्य की स्पष्ट शब्दों में उद्घोषणा करते हैं— 'मानव अपने जीवन के जिन पुण्य पलों में दुख और दुख के कारणों से विमुख हो सुख और सुख के कारणों को अपना लेगा तब वह जीवन में सुख शान्ति और सन्तोष का अनुभव कर सकेगा। उसका जीवन शान्त और समृद्ध बन सकेगा। जीवन में सरसता मधुरता और समरसता का आनन्द ले सकेगा।

भारतीय विचार-धारा मूल में एक होकर भी हजारों-हजार धाराओं में प्रवाहित होकर अन्त में एक ही महासागर में विलीन हो जाती है। जीवन के संलक्ष्य के सम्बन्ध में मत-भेद नहीं। विचार भेद है केवल साधना के उपकरणों में। साधकों का ध्येय एक है परन्तु हर साधक अपनी राह—अपनी शक्ति

को तोलकर ही बनाता है। "दु ख है और उससे छुटकारा पाना है।" यह भारतीय दर्शन-शास्त्र का मूल महास्वर है। दु खो से मुक्ति कैसे पाना ? यह एक प्रश्न उलझन का अवश्य रहा है—फिर भी मैं कहता हूँ कि इस विचार चर्चा की गहराई मे जब आप उतरेंगे, तब इसमे भी आपको समन्वय मिल सकेगा। जैन-दर्शन जीवन के हर क्षेत्र मे अनेकान्त और समन्वय को लेकर चला है।

उपनिषद्-काल के एक ऋषि से पूछा गया—"भगवन् ! इस समूचे ससार मे दु ख ही दु ख है, या कही सुख भी ? यदि सुख भी है, तो वह कैसे मिले ?"

ऋषि ने शान्त और मधुर स्वर मे कहा—"सुख भी है, शान्ति भी है, आनन्द भी है। "यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुख मस्ति जीवन मे सुख अवश्य है, किन्तु वह एकत्व मे नही, समग्रत्व मे सन्निहित है।" जो भूमा है, जो विराट है, जो महान् है और जो जन-जीवन मे समग्रत्व है—वह सुख है, वह शान्ति है, वह आनन्द है। परन्तु याद रखो, सुख की निधि समग्रत्व मे है, अपनत्व मे नही। जहाँ मन का दायरा छोटा है, वहाँ सुख नही है। वहाँ है—दीनता, दरिद्रता और दु ख। मानव की विराट भावना मे सुख है, और उसके क्षुद्र विचारो मे दु ख-दैन्य है।

मानवतावादी विराट भावना मे विभोर होकर एक ऋषि कहता है—"यत्र विश्व भवत्येक नीडम्।" सारा ससार और यह विराट लोक क्या है ? यह एक घोसला है। समूचा ससार एक घोसला है, और हम सब पक्षी हैं। इस नीड मे अलग-अलग दीवार नही, हदबन्दी नही, बाडाबन्दी नही। जिसका जहाँ जी चाहे—बैठे और चहके। इतनी विराट भावना, इतना

विधान मानस जिस समाज को और जिस देश को मिला हो—वहाँ सुख शान्ति और आनन्द के झूले पर झूल सकता है। सुख का अक्षय भण्डार मानव-समाज की चेतना की जागृति में है। यह समाज और यह राष्ट्र क्या है? यह भी एक नीड़ है, एक घोंसला है, जिसमें सब मानव पक्षी मिल जुल कर रहते हैं। ऋषि की भाषा में यही सुख का सही रास्ता है।

भगवान् महावीर ने कहा—'संचय मत करो, संग्रह मत करो।' जो पाया है, उसे समेट कर मत बैठो। संविभाग जीवन में सुख की कुंजी है।

जन-जागरण और जन जीवन की चेतना के अग्रदूत भगवान महावीर ने कहा है—'सुख और दुःख कहीं बाहर नहीं हैं, वे तो मानव के मन की अन्तर पड़त में छुपे-छुपे रहते हैं।' जब मानवमन की विराट चेतना "मैं और मेरा" के घेरे में बन्द हो जाती है, मानव का विराट मन "मैं और मेरा" के तंग दायरे में जकड़ जाता है, तब संघर्षों के काँटे मानव के चारों ओर बिखर जाते हैं, जिनमें वह जाने-अनजाने पग-पग में उलझता रहता है। यह मैं हूँ, यह मेरा है, मैं स्वामी हूँ और सब मेरे दास हैं। यह दानवी भावना ही अन्तर में दुःखों को पैदा करती है। जहाँ 'मैं और मेरे' का आसुरी राग महाभीम स्वर में अलापा जा रहा हो, वहाँ मानव मन प्रसुप्त देवत्व को जगाने वाला और जन-जन के मन को झंकृत करने वाला सर्वोदयवादी मधुर, मन्द संगीत कौन सुने? फिर वहाँ सुख शान्ति और सन्तोष का सागर कैसे लहरा सकता है? मानव के मन में स्वार्थ के अतिरेक की जब गहरी रेखा अंकित हो जाती है, तब उसकी दृष्टि में यह सारा संसार दो विभागों में विभक्त होने लगता है—एक 'स्व' और दूसरा 'पर', एक 'अपना'

दूसरा 'बेगाना', एक 'घर' का, दूसरा 'बाहर' का—यह वर्गीकरण ही हमारे मन की तग-दिली का सबूत पेश करता है। मानव के विराट एकत्व को विभक्त करने वाली इस भेद-भूमि मे से ही द्वेष, घृणा और हिंसा को जन्म मिलता है। मानव का सोता हुआ दानत्व जाग उठता है, आसुरी भावना प्रबल हो जाती है।

भगवान् महावीर से पूछा गया—"जीवन मे पाप-कर्म क्या है, और उससे छुटकारा कैसे मिले ?"

इस जीवन-स्पर्शी प्रश्न के उत्तर मे उस विराट सदात्मा ने, जन-जीवन के प्रवीण पारखी ने कहा—

'सव्व भूयप्प भूयस्स,
सम्भभूयाइ पासओ ।
पिहियासव्वस्स, दतस्स,
पाव-कम्म न बन्धइ ॥"

सम्पूर्ण ससार की आत्माओ को अपनी आत्मा के तुल्य समझने वाला, कभी पाप-कर्म से लिप्त नही होता। जैसा दुःख और जैसा कष्ट तुझे होता है, समझ ले, वैसा ही सब को होता है। जीवन और जगत अपने आप मे न पाप रूप है, न पुण्य रूप। मानव के मन की सकीर्णता और क्षुद्रता ही पाप है, और विराटता, महानता ही पुण्य है। मन भला, तो जग भला। मन मे पाप है, तो जीवन और जगत मे भी पाप है। हमारे मन की तरगो से ही तरगित होता है—जीवन और जगत का सम्पूर्ण सव्यवहार।

राजा भोज की राज-सभा मे एक विद्वान् आया, जो दूर देश का रहने वाला था। अपने जीवन की दरिद्रता के अभि-शाप को राजा के पुण्यमय वरदान मे प्रक्षालित करने के

संकल्प को लेकर वह यहाँ आया था। द्वारपाल ने विद्वान् के आने की सूचना राजा को दी और राजा भोज ने कहा—'विद्वान को अतिथि गृह में ठहरा दो।

राजा भोज विद्वानों का बड़ा आदर-सत्कार करता था। और उन्हें मुक्त हाथों से दान भी दिया करता था। आने वाला विद्वान् विचारों की कितनी गहराई में है? यह जानने के लिए राजा ने अपने एक विश्वास-पात्र विद्वान् के हाथों दूध से लबा लब भरा कटोरा भेजा। जब वह पात्र लेकर पहुँचा तो विद्वान् प्रसन्न मुद्रा में बैठा कुछ लिख रहा था। दूध से भरे-पूरे कटोरे को देखकर विद्वान् ने उसमें एक बताशा डाल दिया और कहा— आप इसे वापिस राजा की सेवा में ले जाएँ।

समय पाकर राजा ने विद्वान् को राज-सभा में बुलाया और पूछा— आपने दूध क्यों लौटा दिया? और उसमें फिर बताशा क्यों डाला? इसका स्पष्टीकरण कीजिए।

विद्वान् ने राजा भोज से विनय विनम्र स्वर में कहा—'राजन्! आपका आशय यह था कि जैसे दूध से कटोरा लबा लब है वैसे मेरी सभा भी विद्वानों से भरी है—यहाँ पर जरा भी स्थान नहीं।

भोज ने इस सत्य को स्वीकृत किया और फिर बताशा डालने का मर्म पूछा?

आने वाले विद्वान् ने कहा—"राजन्! इसका मर्म था कि—दूध भरे कटोरे में जैसे बताशा अपना स्थान बना लेता है वैसे मैं भी आपकी सभा में अपने आप स्थान पा लूंगा। आप किसी प्रकार की चिन्ता में न पड़ें। जगह नहीं होने पर भी जगह बनाना मेरा अपना काम है। राजन्!

आपकी सभा मे भले ही स्थान न हो, परन्तु आपके मन मे स्थान होना चाहिए। यदि आपके मन मे स्थान है, तो फिर क्या कमी है ? वताशा दूध के कण-कण मे रम कर मिठास भर देता है। मैं भी प्रेम की मिठास आपके मन मे और आपकी सभा के सभासदो के मन मे अर्पित कर आपकी गौरव गरिमा को और अधिक महिमान्वित करूगा, फिर स्थान की क्या कमी है?"

मानव मन जव अपनत्व मे वँधकर चलता है, तव जगह होने पर भी जगह नही दे पाता। मानव तग-दिली के दायरे मे अपने कर्तव्य और अकर्तव्य को भी भूल वैठता है। 'मैं और मेरा' की क्षुद्र भावना मनुष्य का कितना पतन करती है ? मैं आपसे कहा रहा था कि ससार मे जितने भी दुख व कष्ट है, वे सब परायेपन पर खडे हुए है और वेगानेपन पर ही पनपते है। इस हालत मे सुख और शान्ति के मधुर नारे लगाने पर भी वह कैसे मिलेगी ?

एक वार की वात है। हम विहार करते-करते एक अपरिचित गाँव मे जा पहुँचे। गाँव छोटा था। एक मन्दिर के अलावा ठहरने को दूसरी कोई जगह नही थी। सन्त मन्दिर के महन्त के पास पहुँचे, स्थान की याचना की। मन्दिर के महन्त ने इन्कार कर दिया। मैं स्वय वहाँ गया। महन्त अपने मन्दिर के द्वार पर खडा था। वात-चीत चली और मैंने भी रात भर ठहरने को स्थान मांगा।

टालू नीति का आश्रय लेते हुए उसने कहा—"यहाँ पर कोई जगह नही है।"

मैंने कहा—"आपके मन्दिर मे जगह नही है, तो न सही। आपके मन मे तो जगह है न।"

उसने मुस्करा कर कहा— 'मन में तो बहुत जगह है।

मैंने कहा— 'यदि मन में जगह है, तब तो आपके इस मन्दिर में भी जगह हो जाएगी। मनोमन्दिर में जिसे जगह मिल जाती है उसे फिर इस ईंट-पत्थर के मन्दिर में जगह क्यों नहीं मिलेगी।

अन्त में महन्त ने प्रसन्न भाव से मन्दिर में ठहरने की जगह दे दी। वहाँ ठहरे परिचय हुआ। अब तो ज्यों-ज्यों मन की गुंथी खुली महन्त ने अपना निजी कमरा भी खोल दिया। मैंने परिहास की भाषा में पूछा—"पहले तो साधारण स्थान भी नहीं था इस मन्दिर में। और अब आपने अपने सोने-बैठने का कमरा भी खोल दिया है। वह भी हँसा और बोला—"आप तो कह रहे थे कि मन में जगह चाहिए। मनोमन्दिर में जगह होने से इस मन्दिर में भी जगह हो गई है।"

हाँ तो मैं आपसे कह रहा था कि सब से बड़ी बात मन की होती है। मन विराट तो विश्व भी विराट मन छोटा तो दुनियाँ भी छोटी है तंग है। पहले महन्त के मन में जगह नहीं थी एक कोठरी भी मिलना कठिन हो गया था और मन में जगह होते ही बढ़िया कमरा भी तैयार। जीवन और जगत का सारा सद्व्यवहार मानव के मन की विराटता पर चलता है और मानव के मन की तंग-दिली पर अटकता है। मन की अटक ही सारे दु:खों की अटक है। जब मनुष्य "मैं और मेरे" के तंग घेरे में बन्द हो जाता है तब वह सुख-शान्ति और आनन्द प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। परंतु जब उसके मन में विराट भावना जाग उठती है तब वह अल्प साधनों में भी सन्तोष के द्वारा सुख लाभ पा लेता है। वह व्यक्ति के सकीर्ण घेरे में से निकलकर परिवार समाज राष्ट्र और

उससे भी बढ कर विराट विश्व में फैल जाता है। इस स्थिति में पहुँचकर मानव का जागृत मन अपनत्व मे समत्व का दर्शन करने लगता है। समग्रत्व के इसी महासागर की तलछट में से मनुष्य ने सुख, सतोष, शान्ति और समृद्धि अधिगत करने की अमर कला सीखी है।

—जयपुर कालेज

कवि की आँख, एक लाजवाब दीवानगी मे घूम-घूमकर भूतल से स्वर्ग और स्वर्ग से भूतल तक को देख लेती है। और ज्यो ही कल्पना अनजानी चीजो की शक्लो को साकार बनाने लगती है, त्यों ही कवि की कलम उनको मूर्तिमान करने लगती है और हवाई शून्य को यहीं का घर और नाम दे देती है।

कविता आत्मा का सगीत है और सब से अधिक महान् और अनुभूतिशील आत्माओं का। कविता अपने दैवी स्रोत के सबसे ज्यादा अनुरूप तब होती है, जब कि वह धर्म की शान्तिमयी विचार-धारा बहाती है।

जन-जीवन की सस्कारिता और समुज्ज्वलता किसी भी देश की शिक्षा और दीक्षा, आदेश और उपदेशो पर निर्भर रहा करती है। पुरातन भारत मे शिक्षा और दीक्षा—दोनो साथ-साथ चला करती थी। जन-जीवन के ये दोनो अविभाज्य अग माने-समझे जाते थे। जन-जीवन की वेधशाला मे विज्ञान के साथ उसका प्रयोग भी चलता था। प्राचीन भारत मे शिक्षा के बडे-बडे केन्द्र खुले हुए थे, जिन्हे उस युग की भाषा मे "गुरुकुल" कहा जाता था। आज जिन्हे आप-हम कॉलिज व युनिवर्सिटी कहते है। आज के ये शिक्षा-केन्द्र नगर के कोलाहल-सकुलित वातावरण मे चलते है, परन्तु वे गुरुकुल वनो और जगलो के एकान्त व शान्त वातावरण मे चलते थे। मानव के नैतिक जीवन की पावनता की सुरक्षा जितनी प्रकृति माता की मगल-मयी व मोद भरी गोद मे रह सकती है, वैसी भोग-विलास से भरे-पूरे नगरो मे नही। गुरुकुलो के पुण्य प्रसगो मे आचार्य और उनके शिष्य एक साथ रहते-सहते, एक साथ खाते-पीते, और एक साथ उठते-बैठते थे। आचार्य अपने शिष्यो को जो भी शिक्षा देता, वह आज की तरह पोथी-पन्नो के बल पर नही, बल्कि वह ज्ञान को आचरण का रूप देता था—जिसका शिष्य अनुसरण करते। शिक्षा को दीक्षा मे उतारकर बताया जाता था। ज्ञान को कर्म मे उतारा जाता था। बुद्धि और हृदय मे समन्वय साधा जाता था। उस युग का आचार्य व गुरु अपने शिष्यो मे व अपने छात्रो मे स्पष्ट शब्दो म चेतावनी और सावधानी देता रहता था—

"यान्यस्माकं सुचरितानि तान्येव सेवितव्यानि नो इतराणि।"

"मेरे प्रिय छात्रो! मैं तुम से स्पष्ट शब्दो मे जीवन का यह रहस्य कह रहा हूँ कि तुम मेरे सुचरितो का और सद्गुणो का

तो अनुसरण करना परन्तु दुर्बलता और कमजोरी का अनुसरण मत करना। जीवन में जहाँ कहीं भी सद्गुण मिले ग्रहण करो और दोषों की ओर मत देखो। ये हैं—प्राचीन भारत की शिक्षा-दीक्षा के जीवन-सूत्र जो देश व समाज की बिखरी शक्ति को संगत करते हैं और राष्ट्र की आत्मा को विशाल बनाते हैं।

मैं आपसे कह रहा था कि उस युग का भारत इतना विराट क्यों था? किसी भी देश की विराटता वहाँ के लम्बे-चौड़े मैदान ऊँचे गगन-चुम्बी गिरि और विशाल जन-मेदानी पर आधारित नहीं होती। उसका मूल आधार होता है—वहाँ के जन-जीवन में धर्म की भावना और मनो की विराटता। छात्रगण गुरुकुल की शिक्षा को पूरी करके अपने गृहस्थ जीवन में जब वापिस लौटता तब अपने दीक्षान्त भाषण में आचार्य कहता था—

धर्मे धीयतां बुद्धिरमनस्ते महदस्तु च।[४]

'वत्स! तुम्हारी बुद्धि धर्म में रमे। तुम अपने जीवन के क्षेत्र में कहीं पर भी रहो—परन्तु अपने धर्म अपने सत्कर्म अपने शुभ संकल्प और अपने जीवन की पवित्रता को न भूलो। जीवन के संघर्ष में उतरते ही तुम्हारे मार्ग में विकट-संकट विविध बाधाएं और अनेक अड़चनें भी आ सकती हैं किन्तु उस समय भी तुम अपने मन में धैर्य रखना और अपने धर्म के प्रति वफादार रहना अपने सदाचार के प्रति वफादार रहना तथा अपने जीवन की पवित्रता जो वंश परम्परा से तुम्हें प्राप्त है और जो भारत की संस्कृति का मूल है—उस धर्म को तुम कभी न भूलना और अपनी बुद्धि को सदा धर्म के संस्कारों से संस्कृत करते रहना। एक ओर तलवार की नोक हो और दूसरी ओर धर्म त्यागने की बात हो तो तुम तलवार की पैनी नोक पर बढ़

जाना, परन्तु अपने धर्म को कभी मत छोडना। जीवन मे धन बडा नही, धर्म बडा है। अपनी बुद्धि को धर्म मे लगा दो, धर्म मे रमा दो।

आचार्य आगे फिर कहता है–"मनस्ते महदस्तु च।" वत्स! तेरा मन विराट हो, तेरा हृदय विशाल हो। भारत का दर्शन और धर्म मानव के मन को विराट बनने की प्रेरणा देता है। मनुष्य के मन मे जब छोटापन और हृदय मे जब क्षुद्रता पैठ जाती है, तब वह अपने आप मे घिर जाता है, बद हो जाता है। उसके मानस का स्नेह-रस सूख जाता है, उसके मन मे किसी के भी प्रति स्नेह व सद्भाव नही रहता। हृदय की क्षुद्रता और लक्ष्य की सकीर्णता—मनुष्य के जीवन मे सब से बडा दोष है। इस दोष के कारण ही मनुष्य अपने परिवार मे घुल-मिल नही पाता। घर मे जब जाता है, तो सब के चेहरो की हँसी गायब हो जाती है। ओछे विचारो का मनुष्य अपने समाज और राष्ट्र के जीवन मे भी मेल-मिलाप नही साध सकता। उसकी सकीर्णता की दीवार उसे विश्व के विराट तत्त्व की ओर नही देखने देती। भारत का दर्शन और भारत का धर्म मानव मन की इस सकीर्णता को, क्षुद्रता को और अपनेपन को तोडने के लिए ही आचार्य के स्वर मे कहता है—"मनस्ते महदस्तु च।" मनुष्य! तेरा मन महान् हो, विराट हो। उसमे सब के समा जाने की जगह हो, तेरा सुख सब का सुख हो, तेरे अन्तर-मन मे परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति मगलमयी भावना हो। कल्याण की कामना हो। अपनेपन की सीमा मे ही तेरा ससार सीमित न हो, समग्र वसुधा तेरा कुटुम्ब हो, परिवार हो।

हाँ, तो भारत की विराटता व विशालता का अर्थ हुआ—यहाँ के दर्शन और धर्म की विशालता। भारत का धर्म और दर्शन

जो कभी यहाँ के जन-जन के मन में रमा हुआ था वह पोथियों में बंद है, मन्दिर और मस्जिदों की दीवारों में है। धर्म और दर्शन जब जन-जीवन में उतरता है तब उस देश की आत्मा विराट बनती है। शरीर की विशालता को भारत महत्त्व नहीं देता वह देता है—मन की विराटता को। शरीर की विशालता कुम्भकर्ण कंस और दुर्योधन को पैदा करती है जिससे संसार में हा-हाकार और तूफान आता है परन्तु मन की विराटता में से राम कृष्ण महावीर और बुद्ध अवतार लेते हैं, जिससे संसार में सुख-शान्ति और आनन्द का प्रसार होता है। देश फलता और फूलता है।

मैं आपसे कह रहा था कि भारत के उन्नयन का कारण भारत के धर्म और दर्शन के उन्नयन में रहा हुआ है। जिस देश के निवासियों का हृदय विशाल हो मन विराट हो उसमें धर्म-तत्त्व रमा हो दर्शन-तत्त्व के अमृत से जिस देश के हृदयों का अभिसिञ्चन हुआ हो वह देश फिर विराट और विशाल क्यों न हो ?

—[illegible] जयपुर

मानव की विराट चेतना

शास्त्रो मे और नीति ग्रन्थो मे मनुष्य-जीवन को सर्वश्रेष्ठ और सर्व ज्येष्ठ कहा है। इतना ही नही, मनुष्य को भगवान् ने अपनी वाणी मे देवताओ का प्यारा कहा है। विचार होता है कि मनुष्य-जीवन की इस श्रेष्ठता व ज्येष्ठता का मूल आधार क्या है? सत्ता, महत्ता और वित्त—क्या इन भौतिक उपकरणो की विपुलता के आधार पर मनुष्य-जीवन की महिमा वर्णित है? मैं कहता हूँ नही, कदापि नही। ऐसा होता तो ससार के इतिहास मे रावण, कस और दुर्योधन मनुष्यो की पक्ति मे सर्व प्रथम गण्य-मान्य होते। परन्तु दुनियाँ उन्हें मनुष्य न कहकर राक्षस और पिशाच कहती है। उस युग के इन तानाशाहो के पास सत्ता-महत्ता और वित्त की क्या कमी थी? वित्त और भव-वैभव के उनके पास अम्बार लगे थे। फिर भी वे सच्चे अर्थों मे मनुष्य नही थे, और यही कारण है कि उनका मनुष्य-जीवन श्रेष्ठता और ज्येष्ठता की श्रेणी मे नही आता।

मनुष्य-जीवन की श्रेष्ठता व ज्येष्ठता का मूल आधार है—त्याग, वैराग्य और तपस्या। यदि जीवन मे त्याग की चमक, तपस्या की दमक और वैराग्य की समुज्ज्वलता हो तो नि सन्देह वह जीवन अपने आप मे एक तेजस्वी व मनस्वी जीवन है।

हर इन्सान को अपने अन्दर झाँक कर देखना चाहिए कि उसके हृदय में सहिष्णुता कितनी है ? उसके मानस में सरसता कितनी है ? और उदारता व सन्तोष कितना है ? यदि ये सद्गुण उसमें हैं तो समझना चाहिए कि वह सच्चा इन्सान है। स्नेह, सद्भाव और समता का मधुमय स्रोत जिसके मानस पर्वत से कल-कल करता बहता हो संसार में उससे बढ़कर मनुष्य और कौन होगा ? शास्त्रकारों ने मनुष्य-जीवन की श्रेष्ठता इस आधार पर कही है कि मनुष्य अपने जीवन को जैसा चाहे वैसा बना सकता है, बन सकता है, अपना नया विकास और निर्माण कर सकता है। अपने अन्दर में सोये पड़े ईश्वरी भाव को साधना के द्वारा जगा सकता है। अपने काम क्रोध और मोह प्रभृति विकारों को क्षीण कर सकता है।

मैं कह रहा था आपसे कि मनुष्य के जीवन की महत्ता त्याग-वैराग्य और स्नेह-सद्भाव में है। त्याग और वैराग्य से वह अपने आपको मजबूत करता है और स्नेह तथा सद्भाव से वह परिवार, समाज और राष्ट्र में फैलता है। व्यक्ति अपने स्वत्व में बन्द रहकर अपना विकास नहीं कर पाता। व्यक्तित्व का बन्धन मनुष्य की आत्मा को अन्दर ही अन्दर घुटा डालता है। स्व से पर में, व्यष्टि से समष्टि में और क्षुद्र से विराट में फैल कर ही मनुष्य का मनुष्यत्व सुरक्षित रह सकता है। जितने-जितने अंश में मनुष्य की चेतना व्यापक और विराट होती चली जायगी, उतने-उतने अंशों में ही मनुष्य अपने विराट स्वरूप की ओर अग्रसर होता जाता है।

भगवान् महावीर ने कहा है— 'जो साधक सर्वात्मभूत नहीं हो जाता वह सच्चा साधक नहीं है। मानव ! तेरी महानता

तेरे हृदय के अजस्र बहने वाले अहिंसा स्रोत मे है, तेरी विशालता तेरी करुणा व दया मे अमृत-तत्व मे है और तेरी विराटता है—तेरे प्रेम की व्यापकता मे ! तेरा यह पवित्र जीवन, जिसे स्वर्ग के देव भी प्यार करते हैं—पतन के गर्त मे गलने-सडने के लिए नही है, वह है तेरे उत्थान के लिए । तू उठ, तेरा परिवार उठेगा । तू उठ, तेरा समाज जागेगा । तू उठ, तेरा राष्ट्र भी जीवन के नव स्फुरण और नव कम्पन की नव लहरियो मे लहरने लगेगा ।"

व्यक्ति की चेतना की विराटता मे ही जग की विराटता सोयी पडी है । महावीर की विराट चेतना केवल महावीर तक ही अटक कर नही रह गई, वह जन-जीवन के कण-कण मे बिखर गई । इसी तथ्य को भारत के मनीषी यो कहते हैं—"मनुष्य देव है, मनुष्य भगवान् है, मनुष्य सब कुछ है । सीधे रास्ते पर चले, तो वह देव और भगवान् है, और यदि उल्टी राह पर चले, तो वह शैतान, राक्षस और पिशाच भी बन जाता है । नरक, स्वर्ग और मोक्ष—जीवन की ये तीनो स्थितियाँ उसके अपने हाथ मे है । जब मनुष्य की आत्मा मे उसका सोया हुआ देवत्व जागृत हो जाता है, तब उसकी चेतना भी विराट होती जाती है, और यदि उसका पशुत्व भाग जाग उठता है, तो वह ससार मे अशान्ति और तूफानो का शैतान हो जाता है । मनुष्य के अन्तर मे जो अहिंसा, करुणा, प्रेम और सद्भाव है—ये उसके देवत्व के, ईश्वरी-भाव के कारण हैं, और उसके अन्तर मानस मे उठने वाले तथा उसके व्यवहार की सतह पर दीख पडने वाले द्वेष, क्रोध, घृणा और विषमता—उसके राक्षसत्व के कारण हैं । इसलिए मनुष्य अपने आप मे राक्षस भी है और देवता भी है ।

इस प्रकार भारतीय चिन्तन की परम्परा मनुष्य को विराट रूप मे देखती है। गीता में श्रीकृष्ण के विराट रूप का जो वर्णन आता है उसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक मनुष्य अपने आप मे एक विराट चेतना लिए घूमता है। हर पिण्ड मे ब्रह्माण्ड का वास है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि मनुष्य अपनी सोई हुई शक्ति को जाग्रत भर करता रहे।

जैन धर्म का यह एक महान् सिद्धान्त है कि हर आत्मा परमात्मा बन सकती है हर भक्त भगवान् हो सकता है और हर नर नारायण होने की शक्ति रखता है। वेदान्त दर्शन भी इसी भाषा मे बोलता है— आत्मा! तू क्षुद्र नही महान् है तू तुच्छ नही विराट है। भारत की विचार परम्परा जन-जीवन मे विराटता का प्राणतत्त्व संदेश लेकर चली है। चेतना का यह विराट रूप लेकर चली है। भारत के मनीषी विचारकों का प्रेम-तत्त्व मात्र मनुष्य तक ही सीमित नही रहा—उस प्रेम तत्त्व की विराट सीमा रेखा मे पशु-पक्षी कीट-पतंग और वनस्पति जगत भी समाहित हो जाता है। भारत की विराट जन चेतना ने साँपो को दूध पिलाया है। पक्षियों को मेवा खिलाई है। पशुओं के साथ भी स्नेह का और सद्भाव का सम्बन्ध रखा है। इतना ही नही पेड व पौधों के साथ भी तादात्म्य सम्बन्ध रखा है। महर्षि कण्व अपने आश्रम से दुष्यन्त के साथ जब अपनी प्रिय पुत्री शकुन्तला को विदा करते हैं तब आश्रम की लताएँ और वृक्ष अपने फूल और पत्तो का अभिवर्षण करके अपना प्रेम व्यक्त करते हैं। इस भाव को प्रकट करती हैं।

मैं आपसे विचार कर रहा था कि भारत की विचार पर म्परा मनुष्य के लिए ही नही बल्कि पशु-पक्षी और पेड़-पौधों

से भी स्नेह का, प्रेम का तथा सद्भाव का सम्बन्ध स्थापित करती है। मनुष्य की विराट चेतना का यही रहस्य है कि वह केवल मनुष्य समाज तक ही सीमित न रह कर जग के अणु-अणु में व्याप्त हो गई है, और इसी में है—मनुष्य का सच्चा मनुष्यत्व।

—लालभवन जयपुर

यौवन, धन-सम्पत्ति, प्रभुत्व और अविवेक—इनमें से प्रत्येक अनर्थ करने के लिए काफी है। परन्तु जहाँ चारों हों, तो विचार करो कि वहाँ क्या दशा होगी?

अधूरा काम और अपराजित शत्रु- ये दोनों बिना-बुझी आग की चिनगारियों की तरह हैं—वे मौका पाते ही बढ़ जाएँगे और उस लापरवाह आदमी को आ दबाएँगे।

कर्मों में तथा फल भोग में आसक्त न होना शौच है, शुद्धि है। विजातीय वस्तु का हट जाना ही शुद्धि है। सद्गुण ही सौन्दर्य है। पाप से घृणा ही लज्जा है। जिससे जीवात्मा, परमात्मा, ब्रह्म का भेद मिटे—वही विद्या है।

जीवन के राजा बनो भिखारी नहीं

भारत के समस्त धर्मों का सार है—तप और जप। जिस जीवन में तप नहीं जप नहीं वह जीवन क्या? तप से जीवन पवित्र होता है और जप से जीवन बलवान बनता है। तन से तप करो और मन से जप करो। तप और जप से जीवन पूर्ण होता है। वस्त्र मलिन होता है, तो उसे स्वच्छ और साफ करने लिए दो चीज जरूरी है—जल और साबुन। अकेला जल भी कपड़े को साफ नहीं कर पाता और अकेला साबुन भी व्यर्थ होता है। दोनों के संयोग से ही वस्त्र की संशुद्धि सम्भव रहती है। वस्त्र दोनों से शुद्ध होता है।

आत्मा अनन्त काल से माया वासना और कर्म के संयोग से मलिन हो गया है। अपवित्र और अशुद्ध हो गया है। उसे पवित्र और शुद्ध करना—मनुष्य का परम कर्तव्य है। आत्मा की संशुद्धि का अमर आधार है—तप और जप। तप जल है जप साबुन। तप और जप के संयोग से आत्मा पवित्र और निर्मल होता है। तप का अर्थ है—अपने आप को तपाना और जप का अर्थ है—अपने आप को पहचानना। पहले तपो फिर अपने स्वरूप को प्राप्त करो। भगवान् महावीर पहले तपे बाद में उन्होंने अपने स्वरूप को पा लिया। तप से भगवान् भी बना जाता है।

मनुष्य महान् है, क्योंकि वह अपने तन का स्वामी है, मन का स्वामी है, अपनी आत्मा का राजा है। जो अपने जीवन मे इन्द्रियो का दास बनकर रहता है, मन का गुलाम बनकर जीता है, और तन की आवश्यकताओ मे ही उलझा रहता है, वह क्या तो तप करेगा, क्या जप करेगा ? और क्या आत्मा को पहचानेगा ? इन्सान जब तक अपनी जिन्दगी का बादशाह नही बनता, भिखारी बना फिरता है, तब तक उत्थान की आशा रखना निरर्थक है। अपने जीवन के रक क्या खाक साधना करेंगे ?

एक भिखारी भाग्य-योग्य से राजा बन गया। सोने के सिंहासन पर बैठ गया। तन को सुन्दर वस्त्र और कीमती आभूषणो से अलकृत कर लिया। सोने के थाल मे भोजन करता, सोने के पात्र मे जल पीता। हजारो-हजार सेवक सेवा मे हाजिर रहते। चलता, तो छत्र और चमर होते। रहने को भव्य भवन। जीवन मे अब क्या कमी थी ? चारो ओर से जय-जयकार थे। किन्तु यह क्या ? मन्त्री आता, तो डरता है। सेनापति आता है, तो कांपता है। नगर के सेठ-साहूकार आते तो सक-पका जाता है। जिन सेठ-साहूकारो के द्वार पर कभी वह भिक्षा-पात्र हाथ मे लेकर द्वार-द्वार भटकता फिरता था—आज वे उसके सामने हाथ जोडकर खडे थे, पर फिर भी वह भयभीत था। कारण क्या था ? वह तन का राजा जरूर था, परन्तु मन का भिखारी ही था। उसका मन अभी राजा नही बन पाया था। सत्ता के उच्च सिंहासन पर आरूढ होकर भी वह अपने आप को अभी तक भिखारी ही समझता था। तन से राजा होकर भी वह मन से भिखारी ही था।

मैं कह रहा था कि समाज मे इस प्रकार के भिखारी

राजाओं की कमी नहीं है। हजारों मनुष्य अपने तन के गुलाम हैं मन के दास है, सम्पत्ति सत्ता और ख्याति के दास हैं। पर में अपार धन-राशि है परन्तु केवल तिजोरियों में बन्द करके धूप-दीप देने को। जीवन में वे धन के दास बनकर रहे, स्वामी नहीं बन सके। धन मिला तो क्या हुआ ? न स्वयं ही भोगा और न समाज या राष्ट्र के कल्याण के लिए ही दे सके।

शक्ति मिली सत्ता मिली। पर हुआ क्या ? अपने स्वार्थ का पोषण किया। अपने को सुखी बनाने के प्रयत्न में रहे। अपनी समृद्धि के लिए दूसरों के जीवन का अनादर किया। बनना चाहिए था दीन अनाथ रक्षक बन बैठे भक्षक। तलवार थी रक्षण के लिए पर करते रहे दीन-जनों का संहार। सत्ता मिली पर किया क्या ? उत्पीड़न ही करते रहे न !

विद्या मिली शिक्षा मिली ज्ञान मिला। पर हुआ क्या ? विवाद करते रहे शास्त्रार्थ करते रहे झगड़ते ही रहे जीवन भर। अपना पाण्डित्य प्रदर्शन करते रहे। जनता का अज्ञान दूर नहीं कर पाए जनता को सन्मार्ग नहीं बता सके। धर्म-गुरु भी बने परन्तु पन्थों के नाम पर—पोथियों के नाम पर संघर्ष करते रहे। सत्य कहने का साहस नहीं है हिम्मत नहीं है तो क्या धर्म-गुरु रहे ? अपने-अपने विचारों के खूँटों से बँधे पड़े रहे पन्थ और मतों की बेड़ियों में बँधे रहे। सत्य को परखा नहीं परखा भी तो जीवन में उतार नहीं सके। हजारों पोथियों का भार ढोते रहे शास्त्रों के नाम पर, धर्म ग्रन्थों के नाम पर। पर सार क्या निकला ? आचार्य के शब्दों में मुझे कहना होगा—

"विद्या विवादाय, धन मदाय,
शक्ति परेषो परिपीडनाय।"

विद्या मिली, प्रकाश नही पा सके, केवल वाद ही करते रहे–ये ज्ञान के गुलाम हैं, विद्या के भिखारी हैं। धन मिला, न स्वय भोग सके और न दे सके—धन-मद और अर्थ-अहकार ही करते रहे—ये धन के गुलाम है। शक्ति और सत्ता मिली, न्याय और नीति के लिए, पर उत्पीडन ही करते रहे–ये शक्ति और सत्ता के गुलाम हैं। राजा वने, पर अन्त मे भिखारी ही रहे।

मैं कह रहा था, कि अपने जीवन के ये कगले-भिखारी क्या विकास करेंगे? क्या अपने को सभालेंगे? जीवन एक विशाल राज्य है। यदि हमारा प्रभुत्व हमारे तन पर नही चलता, मन पर नही चलता, तो हम कैसे राजा? यदि हम तन और मन के गुलाम वने रहे, तो जीवन राज्य मे उस भिखारी राजा से अधिक कीमत हमारी क्या होगी?

एक दार्शनिक से पूछा गया—"सफल जीवन की व्याख्या क्या है?"

उसने मुस्कान भर कर कहा—"तुम मनुष्य हो, मनन-शील हो, जरा मनन करो, व्याख्या मिल जायगी।"

मनुष्य जव जन्म लेता है, तव रोता हुआ आता है। क्यो? इसलिए कि वह विचार करता है—"हिमालय जैसे कर्तव्य के भार को मैं उठाता हुआ, किस प्रकार अपने जीवन को सफल कर सकने मे समर्थ वनूगा?" परन्तु परिवार वाले हँसते हैं। इसलिए कि यह हमारे घर के अधेरे को दूर करेगा। वश, कुल और जाति का काम करेगा। हमारे जीवन का आधार

और सहारा देगा। तुमे स्नेह और सहयोग देगा। जीवन-यात्रा की समाप्ति पर मनुष्य हँसता जाए, और दूसरे रोते रहें और कहें कि आज परिवार, समाज और राष्ट्र की बड़ी हानि हुई है। मनुष्य क्या था वास्तव में देव था। उसने परिवार को स्वर्ग बनाया। समाज को स्वर्ग बनाया। राष्ट्र को स्वर्ग बनाया। यह एक सफल जीवन की व्याख्या है सफल जीवन की परिभाषा है। और यदि मृत्यु के क्षणों में हम रोते रहे और संसार हँसे तो यह हमारे जीवन की करारी हार है एक बहुत बड़ी असफलता है।

जलती आग में लकड़ी को डालो और सोने को भी। फिर देखो क्या होता है? लकड़ी का मुंह काला होगा और सोने की चमक-दमक बढ़ेगी—यदि वास्तव में वह सोना है तो। जीवन में पहले तपो और फिर चमको—यह अमर सिद्धान्त है। जीवन सफलता का रहस्य यही पर है। दूसरों को दुःखी करने वाला क्या कभी सुखी रह सकता है? कदापि नहीं।

भारत का एक महान् दार्शनिक कहता है—'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः।' अपनी आत्मा को जगत् में देखने वाला और सम्पूर्ण जगत को आत्मा में देखने वाला—कभी अपने जीवन में असफल नहीं हो सकता। क्योंकि वह निरन्तर तप और जप से अपने जीवन को शुभ्र निर्मल और पवित्र बनाता रहता है। जीवन की पवित्रता जीवन की निर्मलता और जीवन की विशुद्धि ही—जीवन की सर्वतोमुखी महान् सफलता मानी जाती है।

—पाली नारायण

पचशील और पचशिक्षा

वर्तमान युग मे दो प्रयोग चल रहे हैं—एक अणु का, दूसरा सह-अस्तित्व का। एक भौतिक है, दूसरा आध्यात्मिक। एक मारक है, दूसरा तारक। एक मृत्यु है, दूसरा जीवन। एक विष है, दूसरा अमृत।

अणु प्रयोग का नारा है—"मैं विश्व की महान् शक्ति हूँ, ससार का अमित वल हूँ, मेरे सामने झुको या मरो। जिसके पास मैं नही नही हूँ, उसे विश्व मे जीवित रहने का अधिकार नही है। क्योकि मेरे अभाव मे उसका सम्मान सुरक्षित नही रह सकता।"

सह-अस्तित्व का नारा है—"आओ, हम सव मिलकर चलें, मिलकर वैठें, मिलकर जीवित रहें, और मिलकर मरें भी। परस्पर विचारो मे भेद है, कोई भय नही। कार्य करने की पद्धति विभिन्न है, कोई खतरा नही। क्योकि तन भले ही भिन्न हो, पर मन हमारा एक है। जीना साथ है, मरना साथ है, क्योकि हम सव मानव है और मानव एक साथ ही रह सकते हैं, विखर कर नही, विगड कर नही।"

पश्चिम अपनी जीवन-यात्रा अणु के वल पर चला रहा है, और पूर्व सह-अस्तित्व की शक्ति से। पश्चिम देह पर शासन करता है, और पूर्व देही पर। पश्चिम तलवार-तीर मे विश्वास

रखता है और पूर्ण मानव के अन्तर मन में मानव की सामूहिक साहसीनता में।

आज की राजनीति में विरोध है कलह है असन्तोष और अशान्ति है। नीति भले ही राजा की हो या प्रजा की—अपने-आप में पवित्र है शुद्ध और निर्मल है। क्योंकि उसका कार्य जग-कल्याण है जग-विनाश नहीं। नीति का अर्थ है जीवन की कसौटी जीवन की प्रामाणिकता जीवन की सरलता। विग्रह और कलह को वहाँ अवकाश नहीं क्योंकि वहाँ स्वार्थ और वासना का दमन होता है और धर्म क्या है? सब के प्रति मगन भावना। सब के सुख में सुख-बुद्धि और सब के दुःख में दुःख-बुद्धि। समत्व-योग की इस पवित्र भावना को 'धर्म' नाम से कहा गया है। यो मेरे विचार में धर्म और नीति सिक्के के दो बाजू हैं। दोनों की जीवन-विकास में आवश्यकता भी है। यह प्रश्न अभय है कि राजनीति में धर्म और नीति का गठबंधन कहाँ तक संगत रह सकता है? विशेषतः आज की राजनीति में जहाँ स्वार्थ और वासना का नग्न ताण्डव नृत्य हो रहा हो मानवता मर रही हो।

बुद्ध और महावीर ने समूचे संसार को धर्म का सन्देश दिया राजनीति से अलग हटकर—यद्यपि वे जन्मजात राजा थे। गांधी ने नीतिमय जीवन का आदेश दिया—राजनीति में भी धर्म का शुभ प्रवेश कराया यद्यपि गांधी जन्म से राजा नहीं थे भी गांधी ने राजनीति में धर्म की अवतारणा की। गांधी की भाषा में राजनीति वह—जो धर्म से अनुप्राणित हो धर्ममूलक हो। जिस नीति में धर्म नहीं वह राजनीति कुनीति रहेगी। राजा की नीति धर्ममय होती है क्योंकि भारतीय परम्परा में

राजा न्याय का विशुद्ध प्रतीक है। जहाँ न्याय, वहाँ धर्म होता ही है। न्याय रहित नीति नीति नही—अनीति है, अधर्म है।

आज भारत स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र भारत की राजनीति का मूल आधार है—पचशील सिद्धान्त। इस पचशील सिद्धान्त के सबसे बडे व्याख्याकार हैं—भारत के प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू। भारत और रूस—विश्व की सर्वतोमहान् शक्ति—आज इस पचशील सिद्धान्त के आधार पर परस्पर मित्र बने है। गाधी युग की या नेहरू युग की यह सबसे बडी देन है, ससार को। दुनिया की आधी से अधिक जनता पचशील के पावन सिद्धान्त मे अपना विश्वास ही नही रखती, बल्कि पालन भी करती है। यूरोप पर भी धीरे-धीरे पचशील का जादू फैल रहा है।

मैं आपको यह बताने का प्रयत्न करूँगा कि पचशील क्या है? इसका मूल कहाँ है, और यह पल्लवित कैसे हुआ? सब मे पहले मैं, राजनीति मे प्रचलित पचशील पर विचार करूँगा। भारत की राजनीति का आधार—पचशील इस प्रकार है—

राजनीतिक पचशील

(क) अखण्डता एक देश दूसरे देश की सीमा का अतिक्रमण न करे। उसकी स्वतन्त्रता पर आक्रमण न करे। इस प्रकार का दबाव न डाला जाए, जिससे उसकी अखण्डता पर सकट उपस्थित हो।

(ख) प्रभु-सत्ता—प्रत्येक राष्ट्र की अपनी प्रभु-सत्ता है। उसकी स्वतन्त्रता मे किसी प्रकार की बाधा बाहर से नही आनी चाहिए।

(घ) अनाक्रमण—किसी देश के आन्तरिक या बाह्य सम्बन्धों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

(घ) सह-अस्तित्व—अपने से भिन्न सिद्धान्तों और मान्यताओं के कारण किसी देश का अस्तित्व समाप्त करके उस पर अपने सिद्धान्त और व्यवस्था लादने का प्रयत्न न किया जाए। सब को साथ जीने का सम्मानपूर्वक जीवित रहने का अधिकार है।

(ङ) सहयोग—एक-दूसरे के विकास में सब सहयोग सहकार की भावना रखें। एक के विकास में सबका विकास है।

यह है राजनीतिक पंचशील सिद्धान्त जिसकी आज विश्व में व्यापक रूप से चर्चा हो रही है। "शील" शब्द का अर्थ यहाँ पर सिद्धान्त लिया गया है। पंचशील आज की विश्व-राजनीति में एक नया मोड़ है जिसका मूल—धर्म-भावना में है।

भारत के लिए 'पंचशील' शब्द नया नहीं है। क्योंकि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व भी श्रमण-संस्कृति में यह शब्द व्यवहृत हो चुका है। जैन परम्परा और बौद्ध परम्परा के साहित्य में पंचशील शब्द आज भी अपना अस्तित्व रखता है और व्यवहार में भी आता है।

बौद्ध पंचशील

भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए पाँच आचारों का उपदेश दिया था उन्हें 'पंचशील' कहा गया है। 'शील' का अर्थ यहाँ पर आचार है अनुशासन है। यह पंचशील इस प्रकार है—

(क) अहिंसा—प्राणी मात्र के प्रति समभाव रखो। किसी पर द्वेष मत रखो क्योंकि सब को जीवन प्रिय है।

(ख) सत्य—सत्य जीवन का मूल आधार है। मिथ्या भाषण कभी मत करो। मिथ्या विचार का परित्याग करो।

(ग) अस्तेय—दूसरो के आधिपत्य की वस्तु को ग्रहण न करो। जो अपना है, उसमे सन्तोष रखो।

(घ) ब्रह्मचर्य—मन से पवित्र रहो, तन से पवित्र रहो। विषय-वासना का परित्याग करो। ब्रह्मचर्य का पालन करो।

(ङ) मद्य-त्याग—किसी भी प्रकार का मद मत करो, नशा न करो। सुरा-पान कभी हितकर नही।

उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्ययन मे केशी-गौतम चर्चा के प्रसग पर 'पचशिक्षा' का उल्लेख मिलता है। पचशील और पच-शिक्षा मे अन्तर नही है, दोनो समान है, दोनो को एक ही भावना है। 'शील' के समान 'शिक्षा' का अर्थ भी यहाँ 'आचार' है। श्रावक के १२ व्रतो मे ४ शिक्षा-व्रत कहे जाते है। पचशिक्षाएँ ये हैं—

जैन पच-शिक्षा

(क) अहिंसा—जैसा जीवन तुझे प्रिय है, सब को भी उसी प्रकार। सब अपने जीवन से प्यार करते है, अत किसी से द्वेष-घृणा मत करो।

(ख) सत्य—जीवन का मूल केन्द्र है। सत्य साक्षात् भगवान् है। सत्य का अनादर, आत्मा का अनादर है।

(ग) अस्तेय—अपने श्रम से प्राप्त वस्तु पर ही तेरा अधिकार है। दूसरे की वस्तु के प्रति अपहरण की भावना मत रख।

(घ) ब्रह्मचर्य—शक्ति सचय। वासना सयम। इसके बिना धर्म स्थिर नही होता। सयम का आधार यही है। यह ध्रुव धर्म है।

(ङ) अपरिग्रह—आवश्यकता से अधिक सचय पाप है। सग्रह मे परपीडन होता है। आसक्ति बढती है। परिग्रह का त्याग करो।

वैदिक पंच-यम

वैदिक धर्म का पंच यम पंच-शिक्षा के सर्वथा समान है—भावना में भी और शब्द में भी। पंच-यम का उल्लेख योग सूत्र में इस प्रकार है—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।' 'यम' का अर्थ है—संयम, सदाचार, अनुशासन।

मैं आपसे कह रहा था कि भारत की राजनीति में आज जिस पंचशील की चर्चा की जा रही है, प्रचार हो रहा है, वह भारत के लिए नया नहीं है। भारत हजारों वर्षों से पंचशील का पालन करता चला आ रहा है। राजनीति के पंचशील सिद्धान्त का विकास बौद्ध पंचशील से, जैन पंच-शिक्षा से और वैदिक पंच-यम से भावना में बहुत कुछ मेल खा जाता है।

बौद्ध पंचशील और जैन पंच-शिक्षा की मूल भावना सह-अस्तित्व और सहयोग में है।

मानवतावादी समाज का कल्याण और उत्थान अन्य से नहीं, सह-अस्तित्व से होगा—यह एक ध्रुव सत्य है।

●●

आज का प्रजातन्त्र और छात्र-जीवन

भारत की सस्कृति मे शिक्षा के साथ दीक्षा को भी जीवन-विकास मे परम साधन माना है। शिक्षा-शून्य दीक्षा और दीक्षा-विकल शिक्षा—दोनो व्यर्थ है। जीवन मे दोनो की अनिवार्यता है। शिक्षा एक सिद्धान्त है, तो दीक्षा उसका प्रयोग है। शिक्षा-ज्ञान है, तो दीक्षा क्रिया है। शिक्षा विचार है, तो दीक्षा आचार। शिक्षा आँख है, तो दीक्षा पाँव। देखने को आँख और चलने को पाँव हो, तभी जीवन-यात्रा शान्ति और आनन्द के साथ तय की जा सकती है। शिक्षा से बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास होता है, और दीक्षा मे दैहिक विकास होता है। आध्यात्मिक, नैतिक और दैहिक विकास करना, यही तो भारत की सस्कृति मे शिक्षा का आदर्श है, शिक्षा का ध्येय विन्दु है।

मैं आपको प्रेरणा करता हूँ कि आप शिक्षा और दीक्षा मे समन्वय साधकर चलें। विचार, आचार और अनुशासन, छात्र-जीवन के ये साध्य तत्त्व हैं। विचार से जीवन मे प्रकाश मिलता है, आचार से जीवन पवित्र बनता है, और अनुशासन से जीवन सहिष्णु और तेजस्वी बनता है। आप लोग परस्पर सहकार रखो, अध्यापक वर्ग का आदर करो। छात्र-जीवन भावी जीवन की आधार-शिला है। नीव मजबूत हो, तो उस पर भव्य भवन खडा किया जा सकता है।

आप लोग अपने जीवन को मधुर, सुन्दर और सरस बनाने के लिए आत्म-विश्वास सहिष्णुता और सहयोग की भावना को जागृत कीजिए। आत्म-विश्वास का अभाव भावी जीवन के प्रति चिन्ता उत्पन्न करता है आज हम जिस युग में साँस ले रहे हैं वह लोकतन्त्र का युग है, प्रजातन्त्र का युग है। इस युग की सब से बड़ी देन है—आत्म-विश्वास। एकतन्त्रीय युग में हर किसी को बोलने और करने की छूट नहीं थी। मनुष्य को अपने विचार मन ही में कितने ही सुन्दर क्यों न हों अपने मन की कब्र में ही दफनाने पड़ते थे। परन्तु आज तो हम अपने विचारों का प्रचार भी कर सकते हैं, और उनके अनुसार कार्य भी। प्रत्येक व्यक्ति आज अपने जीवन का राजा है सम्राट है। विकास के साधनों का उपयोग हर कोई कर सकता है। जाति और कुल के बन्धन आज नहीं रहे हैं। आज जाति की पूजा नहीं मानव की पूजा का युग है। प्रजातन्त्रीय देश के नागरिक होने के नाते आपके दायित्व आज बढ़ गए हैं। उनका सम्यक् भाँति पालन करने के लिए आप में अटूट और अखूट आत्म विश्वास का बल होना ही चाहिए।

दूसरा गुण है—सहिष्णुता। आज जीवन में इसकी बड़ी आवश्यकता है। सहिष्णुता के बिना ज्ञान की साधना नहीं की जा सकती। आप अपने जीवन के बारे में भला-बुरा सोचने में सक्षम हो। जीवन के भव्य प्रवेश-द्वार पर पहुँचने के प्रयत्न में हो। यदि इस समय में आप सहिष्णु नहीं बन सके तो गृहस्थ जीवन के संघर्षों में आप उलझ कर परेशान और हैरान बन जाओगे। सम्भव है आशा के हिमगिर से गिर कर पतन के निराशा के अन्धकूप में भी जा गिरो। ऐसी विषम स्थिति में अपने आप को सम्भाल कर रख सकना सरल

नही होगा। अत सहिष्णुता का गुण एक महान् गुण है। वह जीवन मे आपको कर्मठ, क्रियाशील और तेजस्वी रखेगा।

तीमरा गुण है—सहयोग। व्यक्ति कभी अपने आप मे वन्द नही रह सकता। वह एक मूल केन्द्र है, जिसके आस-पास परिवार है ममाज है, और राष्ट्र है। आज परिवार, समाज और राष्ट्र का दु ख-मुख उसका अपना दु:ख-मुख वनता जा रहा है। समाज का मकट आज व्यक्ति का मकट है, ममाज की ममस्या आज व्यक्ति की समस्या है। युग के साथ कदम वढाकर चलना आज के युग का नया नारा नही है। वेद मे कहा है—'मगच्छध्व'—कदम मिलाकर साथ चलो। जैन मस्कृति मे इस भावना को 'मह-धर्मवत्मलता' कहा गया है। आज के युग मे इस भावना को सह-अस्तित्व, सहकार और सहयोग कहते है। आप एक-दूमरे के साथ सहयोग की भावना रखकर चलें।

मैं आज अपने आपको आपके मध्य मे पाकर परम प्रमन्न हूँ। मैं भी कभी आपके ही समान छात्र था, और मत्य तो यह है कि मैं आज भी अपने आपको एक विद्यार्थी ही ममझता हूँ। मम्पूर्ण जीवन ही ज्ञान की साधना के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। ज्ञान की प्याम वुझी, कि मनुष्य का विकाम रुका। नया ज्ञान, नया विचार और नया चिन्तन मदा होते ही रहना चाहिए। जो स्थिति आज हमारे मामने है, उमके आधार पर मैं स्पष्ट कह मकता हूँ कि एक परिवर्तन अवश्य हो रहा है। युग वदल गया है। वह ममय अव दूर नही रहा जिसमे एक सुन्दर मानव ममाज का निर्माण होगा। इस ममाज मे जाति, कुल और धन की नही, वल्कि व्यक्ति के मद्गुणो की मत्ता और महत्ता स्वीकार करनी होगी।

अमर-सूक्ति-सुधा

धर्म का कार्य मनुष्य को मनुष्य बनाने का है, जनता को उच्च-स्तर पर नैतिक शिक्षा देने का है। यह अपनी सीमा से बाहर भूगोल, खगोल, भाषा, विज्ञान, कला तथा राष्ट्रीयता आदि के स्वतन्त्र क्षेत्रो मे क्यो व्यर्थ अपनी टाँग अडाता है? जो धर्म अपनी मर्यादा से बाहर के मैदान मे लडने जाएगा, वह जनता की स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति के द्वारा पराजित हो जाएगा।

विज्ञान की प्रगति ने मानव को ऐसे चौराहे पर लाकर खडा किया है, जहाँ से वास्तविक सुख तथा पूर्ण विनाश को मार्ग जाते हैं। भौतिकवाद के मद के कारण मानव भ्रान्त है और यह नही समझ पा रहा है कि—सुख का मार्ग कौन-सा है! इस मार्ग को तभी देख सकता है, जब जीवन मे आध्यात्मिक तत्त्वो को फिर से प्रस्थापित करें और भौतिक मूल्यो को ही जीवन का आदि-अन्त न समझें।

किसी धर्म को इसलिए स्वीकार मत करो कि वह सबसे नया है। सबसे नयी चीजें भी समय की कसौटी पर परखी न जाने के कारण सदा श्रेष्ठ नही होती।

धर्म-जीवन की साधना करते हुए अपने-आप से पूछो कि कहीं तुमने ऐसा काम तो नहीं किया है जो घृणा का हो द्वेष का हो अथवा शत्रुता की भावना को बढ़ाने वाला हो। इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर मिले तो समझना चाहिए कि प्रार्थना का धर्माचरण का मन पर कोई असर जरूर हो रहा है अथवा हुआ है।

यह मत समझो कि सत्य और मिथ्या प्रकाश और अन्धकार, समर्पण और स्वार्थ-साधन—एक साथ उस घर में रहने दिए जाएँगे जो शुद्ध भगवान को निवेदित किया गया हो।

किसी धर्म को इसलिए अंगीकार मत करो कि वह सबसे प्राचीन है। उसका सबसे प्राचीन होना—उसके सच्चे होने का कोई प्रमाण नहीं है। कभी-कभी पुराने से पुराने घरों को गिराना भी उचित होता है और पुराने वस्त्र तो बदलने ही पड़ते हैं। यदि कोई नयी से नयी सूझ विवेक की कसौटी पर खरी उतरे, तो वह उस ताजा गुलाब के फूल के समान उत्तम है जिस पर चमकती हुई ओस के कण शोभायमान हो रहे हों।

किसी धर्म पर इसलिए श्रद्धा मत करो कि उसे थोड़े से इने-गिने लोगों ने स्वीकार किया है। कभी-कभी अल्प जन-संख्या किसी ऐसे धर्म को अंगीकार कर लेती है जो अन्धकारमय और भ्रान्त होता है।

किसी धर्म को इसलिए मत स्वीकार करो कि उस पर विपुल जन-सख्या का विश्वास है, क्योकि विपुल जन-सख्या का विश्वास तो वास्तव मे शैतान, अर्थात्—अज्ञान के धर्म पर होता है। एक समय था कि जब विपुल जन-सख्या गुलामी की प्रथा को स्वीकार करती थी, परन्तु यह बात गुलामी की प्रथा के उचित होने का कोई प्रमाण नही हो सकती।

किसी धर्म को इसलिए अगीकार मत करो कि वह राजाओ और युवराजो ने चलाया है। राजा लोगो मे तो प्राय आध्यात्मिक ज्ञान का काफी अभाव रहता है।

आप सत्य को प्राप्त कर सके, आप ब्रह्मत्व का अनुभव कर सकें—इसके लिए यह जरूरी है कि आपकी प्यारी से प्यारी अभिलाषाएँ और आवश्यकताएँ पूर्णत छिन्न-भिन्न कर दी जाएँ, आपकी जरूरते और प्यारी से प्यारी ममताएँ तथा आसक्तियाँ आपसे पृथक् कर दी जाएँ और आपके चिरपरिचित अन्ध-विश्वास मटियामेट कर दिए जाएँ—और इनसे आपका, आपके शरीर का कोई सम्बन्ध न रहे।

किसी धर्म पर इस कारण श्रद्धा मत करो कि यह किसी बड़े भारी प्रसिद्ध मनुष्य का चलाया है। सर आईजक न्यूटन एक बहुत प्रसिद्ध मनुष्य हुआ है तो भी उसकी प्रकाश-सम्बन्धी नियम कल्पना असत्य है।

किसी धर्म को इसलिए स्वीकार मत करो कि वह ऐसे मनुष्य का चलाया हुआ है जिसका चरित्र सर्वोत्तम है। प्रायः उत्तम चरित्र वाले लोग तत्त्व-ज्ञान का निरूपण करने में असफल रहे हैं। हो सकता है कि किसी मनुष्य की पावन-शक्ति असाधारण रूप से प्रबल हो तथापि उसे पावन-क्रिया का कुछ भी ज्ञान न हो। मान लो, एक चित्रकार कला-चातुर्य के मनोहर, उत्कृष्ट और सुन्दर नमूने प्रस्तुत करता है परन्तु वही चित्रकार शायद संसार में अत्यन्त कुरूप भी हो। ऐसे लोग हैं जो अत्यन्त कुरूप —पर फिर भी वे सुन्दर तत्त्वों का निरूपण करते हैं। सुकरात एक ऐसा ही मनुष्य था।

❀❀

त्याग का अर्थ क्या है?—प्रत्येक पदार्थ को पवित्र बना देना।

❀❀

त्याग के अतिरिक्त और कहीं वास्तविक आनन्द नहीं मिल सकता। त्याग के बिना न ईश्वर-प्रेरणा हो सकती है न प्रार्थना।

❀❀

दान का जन्म धर्म से हुआ है। परिवार धर्म से उसकी स्फुरणा होती है। दान में सर्वोदय का विचार मिलता है। दान में कर्त्तव्य भावना की मुख्यता है स्वार्थ की नहीं। दान में यह भाव नहीं चाहिए।

❀❀

जलती हुई आग तो अपनी लहरो से सचेत कर देती है। परन्तु आग मे छिपे अगारो का अहम् सदा बना ही रहता है।

❀❀❀

मनुष्य ! तेरे अन्दर ज्ञान का दीपक जल रहा है। तू केवल उसके ऊपर मे अज्ञान की चपली हटा दे। चिनगारी जल रही है, ऊपर आई हुई झाई को हटाने के लिए जोर से साधना की फूँक मार !

❀❀❀

अहकारी मत बनो, घमण्डी मत बनो ! यह कभी मत समझो कि आपकी परिच्छिन्न आत्मा किसी वस्तु की स्वामी है, सब कुछ आपकी असली आत्मा।

❀❀❀

त्याग को ही धर्म कहते है, त्याग और ज्ञान एक ही वस्तु है, दो नही।

❀❀❀

सत्य की प्राप्ति के लिए ज्ञानार्जन मे विवेक का होना जरूरी है। वह शिक्षा बेकार है, जो सत्य की प्राप्ति न कराए। कोरी सैद्धान्तिक शिक्षा से विवेक की प्राप्ति नही होती। अत मनुष्य को एक प्रकार के परिवर्तन मे से गुजरना पडता है। एक विश्व की रचना के लिए हमे गर्व त्यागना पडेगा।

❀❀❀

हम छूँछे आदर्शो के पुजारी है, जीवन के सहज सत्य के नही।

वास्तव में आँख नहीं देखती। वह तो एक खिड़की है, उसके द्वारा कोई और ही देख रहा है। वह जब देखता है तो आँखें खुली होने पर भी देखता है, आँखें बन्द होने पर भी देखता है, सोते भी देखता है और जागते भी देखता है। बस, आँख से परे उस आँख वाले को देखो, देखने वाले को देखो।

तू तो वह आत्मा है, जिसे न आँख देख सकती है, न कान सुन सकते हैं, न नाक सूँघ सकती है, न रसना चख सकती है और न स्पर्शन छू सकती है। और तो क्या, संसार में सूक्ष्म निरीक्षण का सबसे बड़ा दावेदार मन भी तुझे नहीं जान सकता। तू अपना रूप आप ही निहार सकता है। बता, तू इस दिशा में कब प्रयत्नशील होगा?

आत्मानुभूति कोई बाहर से प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। वह तो अन्दर ही मिलेगी—एक मात्र अन्दर ही। शरीर, इन्द्रियाँ और मन की वासना के बोझ को तोड़ कर फेंक दो, आत्मानुभूति का प्रकाश अपने आप जगमगा उठेगा।

किसी धर्म का इसलिए अंगीकार मत करो कि वह किसी त्यागी महात्मा द्वारा या ऐसे मनुष्य द्वारा चलाया गया है जिसने सब कुछ त्याग दिया है। क्योंकि हमें कई ऐसे त्यागी मिलते हैं जो सब कुछ त्याग देते हैं पर जानते कुछ भी नहीं। वे धार्मिक मनमाने होते हैं।

सदा स्वतंत्र कार्यकर्त्ता और दाता बनो। अपने चित्त को कदापि याचक और आकांक्षी की दशा में न डालो! अपने व्यक्तिगत अधिकार जमाने वाले स्वभाव से पल्ला छुडाओ!

तू न स्त्री है, न पुरुष, न ब्राह्मण है, न शूद्र, न स्वामी है, न दास! तू तो एक आत्मा है—शुद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, अरूप। क्या तू जड कर्म-पुद्गलों के इन विकारी भावों को अपना समझता है? यदि ऐसा है, तो तुझ से बढकर कोई मूर्ख नहीं—कोई पागल नहीं।

आत्मा नित्य है, देह अनित्य है। आत्मा अजर-अमर है, देह क्षण-भंगुर विनाशी है। आत्मा पवित्र है, देह अपवित्र है। आत्मा रोग, शोक, दुःख, द्वन्द्व से परे है, और देह इनमें घिरा हुआ है।

आत्म-विजय का मार्ग—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वों से सर्वथा दूर होकर जाता है।

आत्मा-देवता संसार के सुख और दुःखों से परे रहता है। न वह पाप-पुण्य की परिधि में आता है, और न महाकाल की सीमा में ही बँधता है। उसका जीवन-सौन्दर्य सदा अजर, अमर, नित्य और शाश्वत है। संसार की कोई भी मोहमाया उसे मलिन नहीं कर सकती।

ईश्वर की पूजा के लिए न तो फल-फूल चढ़ाने की जरूरत है, न धाल-घड़ियाल बजाने और दीप जलाने की ही जरूरत है। ईश्वर की सच्ची और श्रेष्ठ पूजा का एक यही उपाय है कि— मनुष्य ईश्वर के आदर्शों और पवित्र विचारों को अपने आचरण में उतारे और ईश्वर के निर्देशानुसार सन्-मार्ग पर चलकर अपना जीवन व्यतीत करे।

आप अपने को तुच्छ, दीन-हीन और पापी क्यों समझते हैं? आप तो मूल में शुद्ध बुद्ध पवित्र परमात्मा हैं। जरा अपने ऊपर पड़ी हुई विकारों की राख को साफ कर दीजिए, फिर आप देखिए किस बात में तुच्छ और दीन हैं? आत्म-वैभव से बढ़कर कोई वैभव नहीं! आत्म-तेज से बढ़कर कोई तेज नहीं!!

जड़ वह है जो अपने को आप ही जानता है। दूसरा कौन है उसे जानने वाला? इस संसार में दो भाई विचरण कर रहे हैं उनमें एक सुआँखा (आँख वाला) है तो दूसरा अंधा। क्या आप जान गए ये कौन हैं? चेतन सुआँखा है तो जड़ अंधा। बस अब सर्वोपरि सत्य का निर्णय हो गया।

जब आत्मा की ओर ध्यान जाता है तो हम ऊपर उठते हैं और ऊँचे चढ़ते हैं। और जब शरीर की ओर, केवल शरीर की ओर ही ध्यान जाता है तो हम नीचे गिरते हैं और नीचे लुढ़कते हैं। बस इतने से ही समझ लो—तुम्हें नीचे गिरना है या ऊपर चढ़ना है?

मैं अजर हूँ, अमर हूँ, अनन्त हूँ! मैं ईश्वर हूँ, खुदा हूँ, गॉड हूँ!! न मेरा जन्म है और न मरण है। मैं महाकाल की भुजाओ से बाहर हूँ। मेरा प्रकाश देश और काल की सीमाओ को समाप्त करने वाला है। मैं महाप्रकाश हूँ—असीम और अनन्त!

मैं आत्मा हूँ, ईश्वरत्व के अनन्तानन्त तेज से परिपूर्ण! मैं स्वय अपने-आप ही अपने भाग्य का विधाता हूँ! भला, मैं कभी किसी दूसरे के हाथ का खिलौना बन सकता हूँ? कभी नही! कभी नही!! कभी नही!!!

बाहरी क्रियाकाण्डो की साधना—साधन है, साध्य नही। यदि ये क्रियाकाण्ड हमे नम्र और सरल नही बनाते है और आत्म-तत्त्व के पाने मे सहायता नही पहुँचाते हैं, तो फिर ये भार है और व्यर्थ है।

सच्चा ज्ञान प्रकृति के रहस्यो को खोलने मे नही है, बल्कि अपने जीवन के रहस्यो के विश्लेषण मे है, उनके जाँचने और परखने मे है। प्रकृति उतनी रहस्यमयी नही है, जितनी कि अन्तरग चेतना है।

भक्ति का अर्थ—दासता नही है, गुलामी नही है। भक्ति का अर्थ है—अपने आराध्य देव के साथ एकता और अभेदता की अनुभूति।

मनुष्य की आत्मा नाम और रूप की माया से घिरी हुई है। आखिर, संसार है क्या ? कुछ नाम है, तो कुछ रूप है। विशुद्ध जीवन को बाँधने वाले इन खूँटों को जड़-मूल से उखाड़े बिना मानवता की प्रगति के लिए मार्ग नहीं मिल सकता।

अपने आप में विश्वास रखना ही ईश्वर में विश्वास रखना है। जो अपने-आप में विश्वास नहीं रखता और दुर्बल व कायर है वह कहीं भी आश्रय नहीं पा सकता। ऐसे मानव को स्वर्ग के असंख्य देवता भी अपने पैरों पर खड़ा नहीं कर सकते!

शिव और शव में क्या अन्तर है ? 'इ' और 'अ' का ही तो अन्तर है। जहाँ श्रद्धा भक्ति है वहाँ शिव है—परमात्मा है और जहाँ श्रद्धा भक्ति नहीं है वहाँ आत्मा एक शव-मात्र और मुर्दे की लाश है।

पहाड़ की किसी कन्दरा में छिपकर सुरक्षा पाने वाला गुलाब का पुष्प क्या उस गेंदे के पुष्प की बराबरी कर सकता है। जिसने अपने को वीरों के पथ में फेंक दिया है ?

सच्ची शिक्षा वह है जो आचार से खोली जाए और काम में बन्द की जाए।

श्रद्धा कहो या भक्ति कहो, बात एक ही है। साधक की साधना का मूल-प्राण ही तो श्रद्धा है। यदि श्रद्धा नहीं, तो साधना एक निर्जीव शव-स्वरूप हो जाती है।

प्रेम और मोह—दोनो अलग-अलग चीज है। इन दोनो को एक समझना भारी भूल है। प्रेम, आत्मा को विकसित करता है, विराट बनाता है और मोह आत्मा को सकुचित करता है, क्षुद्र बनाता है। प्रेम निष्काम-भावना की शुद्ध स्नेहानुभूति है, तो मोह स्वार्थ की दूषित अनुरक्ति।

साधक! क्या तू मृत्यु से डरता है? क्या वह कोई भयानक वस्तु है? भद्र! तेरी भूल ही तुझे तग कर रही है। मृत्यु कुछ नही, एक परिवर्तन है। इस परिवर्तन से तो वह डरे, जो पापाचरण मे लग रहा हो, धर्म मे शून्य हो, मानवता का दिव्य प्रकाश बुझा चुका हो और जिसकी आँखो के आगे अन्याय, अत्याचार का अन्धकार घनीभूत होता जा रहा हो। किन्तु जो परिवर्तन विकास-पथ पर हो और अभ्युदय का द्वार खोलने वाला हो, उसका तो खुले दिल से स्वागत करना चाहिए।

जहाँ विषय-वासना है, वहाँ प्रेम कैसा? प्रेम की पगडडी तो शुद्ध आध्यात्मिक भाव के ऊँचे शिखरो पर से होकर जाती है। प्रेम, शरीर की सुन्दरता और धन की सम्पन्नता नही देखता। वह देखता है—एक मात्र आत्मा की सुन्दरता और गुणो की सम्पनता।

क्यों वन-वन में भटक रहे हो? वन में दूर बन जाता है, घर में नहीं? यदि घर में नहीं बन सके तो वन में ही क्या बनना है?

प्रेम क्या है? प्रेम हृदय की वह तरंग है जो लघु-व्यष्टि से विराट्-समष्टि की ओर दौड़ती है और अखिल विश्व को अपनी सहज ममता के द्वारा आत्मसात् कर लेती है।

दुनिया में दो ही ताकतें हैं—एक तलवार और दूसरी कलम। परन्तु अन्त में तलवार हमेशा कलम से शिकस्त खाती है।

अधूरा काम और अपराजित शत्रु—ये दोनों बिना-बुझी आग की चिनगारियों की तरह हैं—ये मौका पाते ही बढ़ जाएँगे और उस लापरवाह आदमी को आ दबाएँगे।

यौवन, धन सम्पत्ति, प्रभुत्व और अविवेक—इन में से प्रत्येक अनर्थ करने के लिए काफी है। परन्तु जहाँ चारों हों तो विचार करो कि वहाँ क्या दशा होगी?

कर्मों में तथा धर्म मार्ग में आसक्त न होना शौच है, शुद्धि है। विजातीय द्रव्य का हट जाना ही वस्तु की शुद्धि है। सद्गुण ही सौन्दर्य है। पाप से भय ही लज्जा है। जिससे जीवात्मा परमात्मा ब्रह्म का भेद मिटे वही विद्या है।

जो कला आत्मा को आत्म-दर्शन करने की शिक्षा नही देती, वह कला नही है।

तुम्हे जो चाहिए, उसे मुस्कराहट से प्राप्त करो, न कि तलवार के जोर से।

क्राति मे गुण-समुच्चय की वृद्धि होती है, विवेक होता है। पर भ्रान्ति मे विध्वस की भावना विद्यमान रहती है।

ससार मे कोई व्यक्ति इतना धनवान् अथवा महान् नही है, कि मुस्कान के बिना काम चला सके, और न कोई इतना निर्धन है, कि मुस्कान से सम्पन्न न बनाया जा सकता हो।

पोथी का कुआं डुबाता भी नही और पोथी की नैया तारती भी नही। बातो की कढी और बातो का भात खाकर किसी का पेट भरा है क्या?

जिस मे जनता का चित्त शुद्ध होता है, वही उत्तम साहित्य है।

स्वाध्याय का अर्थ है—सीखना। प्रवचन का अर्थ है—सिखाना।

इससे बढ़कर और कौनसा स्वर्ण समय होगा जिस क्षण हम अपना कार्य पूर्ण देखकर सुखद साँस छोड़ सकें।

अच्छी शिक्षा का पूर्ण उद्देश्य लोगों से ठीक काम कराना ही नहीं है वरन् ठीक कामों में आनन्द लेना सिखलाना है। केवल परिश्रमी बनाना ही नहीं वरन् परिश्रम से प्रेम करना सिखलाना है।

विचार और भाषा एक चीज है। बिना भाषा के हम विचार नहीं कर सकते। नादान बच्चे को भाषा का ज्ञान नहीं होता इसी कारण उसका कोई विचार भी नहीं होता।

हमारी सभ्यता और उसके मूल तत्त्वों का अच्छी तरह से विवेचन और बिना किसी संकोच-सकोच के आलोचन हो जाना आज हमारे सुधार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि सचाई से अपनी भूल को स्वीकार करना—सब प्रकार के सुधार का समारम्भ है।

भौतिक शक्ति मानव के भाग्य का निर्माण नही कर सकती। इतिहास बतलाता है कि भौतिक शक्ति ने महत्वपूर्ण कार्य किया है, परन्तु उस कार्य से यह भी पता चलता है कि भौतिक शक्ति मे विश्व की नैतिक शक्ति की अवहेलना करने की क्षमता नही है। यदि वह अवहेलना का दुस्साहस करती है, तो अपने को खतरे मे डालती है।

गुनाम बनकर स्वर्ग मे रहने की अपेक्षा, जिन्दगी भर नरक मे रहना कही अच्छा है।

विद्या, विद्या के लिए कुछ अर्थ नही रखती। विद्या का महत्व चरित्र-बल के विकास मे है। भारत के एक ऋषि ने कहा है कि—जो लोग केवल विद्या के लिए ही विद्या की पूजा करते है, वे अन्धकार मे जाते हैं।

अपने विश्वासो के लिए जीना अपने विश्वासो के लिए मरजाने से अधिक कठिन है।

सच्ची शिक्षा का अर्थ है—दुनिया के पदार्थो को ईश्वर की आंखो से देखना।

पाप मे बचने का नाम ही पुण्य नही है। पुण्य वह है—जिसमे पाप की ओर प्रवृत्ति ही न हो।

बुराई करने का अवसर दिन में सैकड़ों बार आता है। भलाई करने का अवसर वर्ष में एक बार ही आता है।

जब रुपया गरजता है तो सत्य की बोली बन्द हो जाती

संसार में जीवन कलह चिर स्थायी है। जो योग्य होगा टिकेगा, जो अयोग्य होगा उसका नाश होगा।

कमी को बताना पाप नहीं, प्रत्युत देखते हुए भी पूरा करना पाप है।

गलती करना बुरा है। गलती होने पर छिपाना और अधिक बुरा है। गलती को फैलाना तो जघन्य कार्य है।